अष्टावक्रगीता का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
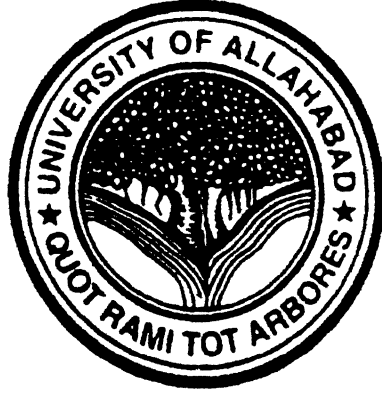
निर्देशिका
डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा
प्रोफ़ेसर (संस्कृत विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

प्रस्तुतकर्ता
संतोष कुमार मिश्र

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
वर्ष - 2002

डा0 राजलक्ष्मी वर्मा
प्रोफेसर, सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
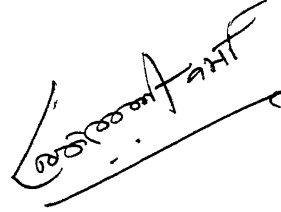
दूरभाष 642816
"साकेत"
4, प्रयाग स्ट्रीट
इलाहाबाद - 211002

दिनांक. 18.12.02

मैं प्रमाणित करती हूँ कि श्री सन्तोष कुमार मिश्र के द्वारा **"अष्टावक्रगीता का समीक्षात्मक अध्ययन"** विषय पर प्रस्तुत किया गया यह शोध-प्रबन्ध उनकी अपनी मौलिक शोधकृति है।

राजलक्ष्मी वर्मा

(क)

प्राक्कथन

अध्यात्म पर जितने भी ग्रंथों की रचना हुई है, उनमें अष्टावक्रगीता सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में से है। यही करण है कि विज्ञजनों द्वारा इस पुस्तक को गीता ही नहीं महागीता की संज्ञा दी गयी है।

वास्तव में अष्टावक्रगीता ग्रंथ नहीं अद्वैत का एक प्रकाश पुंज है, जिसके साथ हजारों ज्योतियॉ जुड़ी हुई है। इसकी एक किरण भी जीवात्मा पर पड़ जाय तो उसे परमशान्ति प्राप्त हो जाय। तत्त्वज्ञान के इस समुद्र की एक बूंद से भी जिसका अभिसिंचन हो गया, वह आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है।

दर्शन के प्रति अभिरूचि मेरे मन में बाल्यावस्था से ही उत्पन्न हो गयी थी, और इस अभिरूचि को उत्पन्न करने का सम्पूर्ण श्रेय मेरे स्व0 पितामह शिवकुमार मिश्र द्वारा दिये गये संस्कारों को है जिनके कारण मैं सदा ही सत्य के अनुसंधान हेतु उन्मुख रहा, साथ ही माता-पिता के आशीर्वाद से मैं इस योग्य बन सका।

मेरी इस दार्शनिक अभिरूचि को सही दिशा एवं गति उस समय प्राप्त हो सकी जब मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातक-कक्षा में प्रवेश लिया, और मेरा परिचय प्रो0 राजलक्ष्मी वर्मा जैसे विराट् दार्शनिक व्यक्तित्व से हुआ। संस्कृत- एम.ए. की उत्तरार्ध

कक्षा में दर्शनवर्ग का चयन करने के उपरांत जब मैंने – प्रो0 वर्मा जी के दार्शनिक व्याख्यानों को सुना, तो ऐसी अनुभूति होने लगी मानों अंतःकरण में दर्शन की निर्मल धारा प्रवाहित होने लगी हो, उन्हीं की सारगर्भित, आशीर्वादस्वरूपा स्नेहमयी वाणी का श्रवण, चिन्तन एवं मनन कर मैं यह शोध–कार्य पूर्ण कर सका हूँ।

इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मैं अपने आदरणीय, श्री शिव प्रकाश द्विवेदी जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस सद्कार्य हेतु प्रोत्साहित एवं प्रयत्नशील रहने की प्रेरणा दी। अध्ययन के प्रसङ्ग में जिन विद्वानों के लेखों एवं ग्रंथों से मुझे सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनके प्रति आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त इस शोध–प्रबन्ध में जिन लोगों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुझे सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से यह शोध प्रबंध पूर्ण हो गया है, परम पूज्जनीया प्रो0 वर्मा जी ने अपने अमूल्य समय में से– समय निकालकर, शोध–कार्य के विषयनिर्धारण से लेकर, शोध–कार्य की जटिलताओं को सुलझाकर उसको पूर्ण करने तक, समय–समय पर मुझे जो सुझाव दिये हैं, उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन मैं शब्दों में कर पाने में स्वयं को अक्षम पा रहा हूँ। इसके लिए मैं परमविदुषी 'प्रो0 वर्मा जी' को सादर नमन् करता हूँ।

दिनाङ्क– 18-12-02 संतोष कुमार मिश्र

(ख)

विषयानुक्रम

प्रथम् अध्याय

आचार्य अष्टावक्र - व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व

(i) आचार्य अष्टावक्र का जीवन परिचयः

आत्मज्ञानी अष्टावक्र के सम्बन्ध में अनेक उपाख्यान प्रचलित हैं– महाभारत में वन पर्व के अंतर्गत 'तीर्थ यात्रा पर्व' में महर्षि लोमश ने अपने आश्रम में युधिष्ठिर को अष्टावक्र के सम्बन्ध में एक विस्तृत उपाख्यान सुनाया जो अत्यन्त रोचक है। "वास्तव में यह आश्रम महर्षि उद्दालक के ज्ञानी पुत्र श्वेत केतु का था। श्वेत केतु अष्टावक्र के मामा थे। मुनि कहोड के पुत्र अष्टावक्र और श्वेतकेतु वेद वेत्ता थे। महर्षि उद्दालक ने सेवाव्रती कहोड को वेदों में पारंगत जानकर उन्हे अपनी पुत्री सुजाता को समर्पित कर दिया था। जब कहोड़ मुनि वेद पाठ कर रहे थे तो सुजाता के गर्भस्थ बालक ने उनके गलत उच्चारण एवं व्याख्या के लिए उनको टोक दिया।"

अष्टावक्र के बारे में बहुत सारी दंत कथायें हैं। जो प्रमुख रूप से प्रचलित मत हैं वह इस प्रकार से हैं।

अष्टावक्र के जीवन के बारे में तीन कथाएं प्रचलित हैं जिनसे पता चलता है कि वे ज्ञानियों के शिरोमणि थे। अल्पायु में ही इन्हें आत्मज्ञान हो गया था।

इनके जीवन के बारे में एक कथा है कि – ये शरीर के आठ अंगों से टेढ़े – मेढ़े व कुरूप थे। अंगों के टेढ़े–मेढ़े होने का कारण था कि जब ये गर्भ में थे उस समय इनके पिता एक दिन वेद पाठ कर रहे थे तो इन्होंने गर्भ में से ही अपने पिता को टोक दिया कि, "रूको, यह सब बकवास है, शास्त्रों में ज्ञान कहाँ? ज्ञान तो स्वयं के भीतर है। सत्य शास्त्रों

में नहीं स्वयं में है। शास्त्र शब्दों का संग्रह मात्र है।" यह सुनते ही उनके पिता का अहंकार जाग उठा। वे आत्मज्ञानी तो थे नहीं, पण्डित ही रहे होंगे। पण्डितों में ही अहंकार सर्वाधिक होता है क्योंकि शास्त्रों के ज्ञाता होने से उनमें इस जानकारी का अहंकार होता है। इसी अहंकार के कारण वे आत्मज्ञान से वंचित रहते हैं। आत्मज्ञान के लिए नम्रता पहली शर्त है, अहंकारी शिखर बन जाता है जिससे ज्ञान – वृष्टि होने पर भी वह सूखा रह जाता है जबकि छोटे – छोटे गढ्ढ़े भर जाते हैं। अष्टावक्र के पिता के अहंकार पर चोट पड़ते ही वे तिलमिला गये होंगे कि उन्हीं का वह पुत्र उन्हें उपदेश दे रहा है, जो अभी पैदा भी नहीं हुआ है। उसी समय उन्होंने शाप दे दिया कि जब तू पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा – मेढ़ा होगा। ऐसा ही हुआ भी। इसलिए उनका नाम पड़ा, 'अष्टावक्र'। यह गर्भ में पूरा वक्तव्य देने की बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आएगी, तर्क से समझ में नहीं आएगी किन्तु इसे आध्यात्मिक दृष्टि से समझा जा सकता है। बीज में ही पूरा वृक्ष विद्यमान है – तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल सभी किन्तु दिखायी नहीं देते। अप्रकट हैं, असंभूत हैं, अभी विकसित हुआ नहीं, अदृश्य है किन्तु पूरा वृक्ष विद्यमान है। बीज को तोड़कर देखने से भी कहीं वृक्ष का पता नहीं चलता, वैज्ञानिक भी उसे नहीं दिखा सकते। जिसने बीज न देखा हो और वृक्ष ही देखा हो वह कभी नहीं कह सकता, इस विशाल वृक्ष का कारण यह छोटा सा बीज हो सकता है। हजार तर्क व प्रमाणों से भी उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर यदि वृक्ष की उम्र हजारों वर्ष की हो, वह मनुष्य की पचास वर्ष की आयु में, अनेक पीढ़ियों तक वहीं वृक्ष दिखायी देने पर, वे उसे अनादि घोषित कर देंगे कि यह वृक्ष अनादि है। यह किसी से पैदा नहीं हुआ। संसार में

ऐसी अनेकों भ्रान्तियाँ हैं। इसी प्रकार मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को गर्भस्थ शिशु अपने में छिपाये रहता है - अप्रकट अवस्था में। पैदा होने के बाद उम्र के साथ - साथ ज्यों - ज्यों शरीर, इन्द्रियाँ व मस्तिष्क आदि का विकास होता जाता है उस व्यक्तित्व का एक - एक भाग विकसित होता जाता है।

अष्टावक्र के संबंध में जो दूसरी कथा ज्ञात है वह यह है कि जब वे बारह वर्ष के थे तब राजा जनक ने देश के सभी बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर एक सभा का आयोजन किया जिसमें तत्त्व-ज्ञान पर शास्त्रार्थ रखा गया था। इसमें यह भी घोषणा हुयी थी कि जो इसमें जीतेगा उसे सींगों पर सोना मढ़ी हुयी सौ गायें दी जाएंगी। शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिये देश के बड़े-बड़े विद्वान एकत्र हुए जिसमें अष्टावक्र के पिता भी सम्मिलित हुए। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ व लम्बे समय तक चलता रहा। तत्त्व ज्ञान पर चर्चा चल रही थी। सायंकाल को अष्टावक्र को खबर मिली कि उनके पिता और सभी से तो जीत गए हैं किन्तु एक पण्डित से हार रहे हैं। यह सुनकर अष्टावक्र भी वहाँ सभा में पहुँच गए। सभा पण्डितों की ही थी। उनमें आत्मज्ञानी तो कोई था नहीं। अष्टावक्र जब अपने टेढ़े - मेढ़े शरीर से चलते हुए उस सभा में पहुँचे तो उनकी आकृति व चाल - ढाल देखकर सभी सभासद् हँस पड़े। थोड़ी देर रुकने के बाद अष्टावक्र भी उन सभासदों को देखकर जोर से हँसे। उनकी हँसी देखकर राजा जनक ने उनसे पूँछा, कि यह विद्वान क्यों हँसे यह तो मैं समझ गया किन्तु तुम क्यों हँसे, यह मेरी समझ में नहीं आया। इस पर अष्टावक्र ने कहा कि मैं इसलिए हँसा कि "इन चर्मकारों की सभा में आज सत्य का निर्णय हो रहा है। ये चर्मकार यहाँ क्या कर रहे हैं।" बारह वर्ष का बालक कितना अनूठा रहा होगा, कितना आत्म -

विश्वासी एवं प्रतिभाशाली रहा होगा जिसने देश के प्रसिद्ध विद्वानों को चर्मकार की संज्ञा दे डाली। चर्मकार शब्द सुनते ही सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सभी स्तब्ध रह गये। जनक ने जिन्हे विद्वान समझ कर बुलाया था उन्हें कोई आकर चर्मकार कह दे तो यह जनक का भी अपमान था। इससे पहले कि ये सभासद् अपना रोष प्रकट करते राजा जनक ने स्थिति सम्भालते हुए संयमित होकर अष्टावक्र से पूछा कि – "तेरा मतलब क्या है, यह मैं नहीं समझ पाया।" अष्टावक्र ने कहा – "बहुत सीधी सी बात है कि चर्मकार चमड़ी का ही पारखी होता है वह ज्ञान को क्या समझे। ज्ञानी ज्ञान को देखता है चमड़ी को नहीं। इनको मेरी चमड़ी हीं दिखायी दी, मेरा आड़ा–टेढ़ा शरीर ही दिखायी दिया जिसे देखकर ये हँस पड़े, ये चमड़ी के अच्छे पारखी हैं। अतः यह ज्ञानी नहीं हो सकते, चर्मकार ही हो सकते हैं। हे राजन् जैसे मंदिर के टेढ़ा होने से आकाश टेढ़ा नहीं होता और मन्दिर के गोल अथवा लम्बा होने से आकाश गोल अथवा लम्बा नहीं होता, क्योंकि आकाश का मंदिर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आकाश निरवयव है तथा मंदिर सावयव है वैसा ही आत्मा का भी शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव है और शरीर सावयव है। आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य। शरीर के वक्र आदिक धर्म आत्मा के कदापि नहीं हो सकते। हे राजन्! ज्ञानवान को आत्म – दृष्टि रहती है, चर्मदृष्टि से अज्ञानी देखते हैं, ज्ञानवान नहीं देखते।" अष्टावक्र के इन वचनों को सुनकर राजा जनक बड़े प्रभावित हुए। वे उनके चरणों में गिर पड़े, साष्टांग दण्डवत किया व उन्हें ज्ञान का उपदेश देने हेतु अपने महलों में आमंत्रित किया। दूसरे दिन जब अष्टावक्र वहाँ पहुँचे तो उन्हें सिंहासन पर बैठाया, स्वयं उनके चरणों में बैठे व शिष्य – भाव से अपनी

जिज्ञासाओं का इस बारह वर्ष के बालक अष्टावक्र से समाधान कराया। यही शंका समाधान 'जनक - अष्टावक्र संवाद' रूप में 'अष्टावक्र गीता' है।

अष्टावक्र के सम्बंध में एक और कथा मिलती है कि राजा जनक ने आत्मज्ञान सम्बंधी अनेकों शास्त्रों का अध्ययन किया। एक शास्त्र में लिखा था कि आत्म-ज्ञान बहुत ही सरल है। इसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता। घोड़े पर चढ़ने के लिए उसके पागड़े में एक पांव रखें व दूसरे पागड़े में रखनें में जितना समय लगता है, उससे भी कम समय में आत्म-ज्ञान संभव है। राजा जनक मुमुक्षु थे। वे इसकी सत्यता की परख करना चाहते थे। वैज्ञानिक मस्तिष्क रहा होगा जो सत्यता को अन्धविश्वासी होकर न मान-कर प्रयोग द्वारा सिद्ध करके देखना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने देश के बड़े-बड़े विद्वानों को पढ़ते हुए कहा कि, इस कथन को सत्य प्रमाणित कीजिए। वे सभी विद्वान तो पण्डित ही थे जिन्हे शास्त्रों का पुस्तकीय ज्ञान मात्र था। वे शास्त्रार्थ करने में तो प्रवीण थे परंतु स्वयं आत्म-ज्ञानी नहीं होने से ज्ञान प्राप्ति के इस रहस्य को सत्य प्रमाणित करने में असमर्थ थे, जिससे सबने मना कर दिया कि हम तो पण्डित मात्र हैं। आत्म ज्ञान का हमें कुछ पता नहीं है कि यह कैसे होता है? कहते हैं कि राजा - जनक ने उन सबको जेल में डाल देने का आदेश दिया। जब अष्टावक्र ने यह समाचार सुना तो वे स्वयं राजा जनक के पास गये एवं उनकी इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा कि, "जनक ऐसा संभव है व शास्त्र जो कहते हैं, वह पूर्ण सत्य है। मैं इसे प्रमाणित करता हूँ। तुम इन सभी विद्वानों को पहले जेल से मुक्त करो व घोड़ा तैयार करवा कर मेरे साथ चलो।" राजा जनक ने सभी विद्वानों को मुक्त कर दिया व अपना घोड़ा तैयार करवाया। अष्टावक्र

राजा जनक को लेकर शहर से दूर एकांत स्थान में गए जहाँ घोड़ा रोककर जनक से अपना एक पांव घोड़े के एक पागड़े में रखने को कहा। राजा जनक ने जब अपना एक पॉव पागड़े में रख दिया तब अष्टावक्र ने उनसे कहा कि "अब बता तूने शास्त्रों में क्या पढ़ा? राजा जनक ने वही बात फिर दोहरायी तो अष्टावक्र ने पूछा कि यह तो सत्य है किन्तु इसके आगे तूने क्या पढ़ा? राजा जनक ने कहा कि इसके लिए पात्रता होनी चाहिए इस पर अष्टावक्र बोल उठे कि "क्या यह शर्त तूने पूरी कर ली है? जब इसकी शर्त ही नहीं पूरी की तो आत्म ज्ञान कैसे संभव है?" राजा जनक एक बार चौंक गए किन्तु वे मुमुक्षु थे। आत्म-ज्ञान की उत्कट इच्छा थी। वे हर कीमत पर इसे प्राप्त करना चाहते थे। वे केवल मानना ही नहीं, जानना भी चाहते थे। वैज्ञानिक की भांति ब्रह्म्-ज्ञान को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। जब ऐसा सद्गुरू उन्हें मिल गया तो वे इस अवसर को खोना भी नहीं चाहते थे। राजा जनक में तीव्र बुद्धि व प्रतिभा थी, उच्च बोध या रहस्य को समझने की क्षमता थी इससे भी उच्चकोटि की थी उनकी मुमुक्षा। शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण वे जानते थे कि पात्रता के लिए आवश्यक है - अहंकार से मुक्ति, पूर्ण समर्पण, शरीर व मन के भावों से मुक्ति, शास्त्र व ज्ञान से मुक्ति, सभी प्रकार के बाध्य उपादानों से अपने आपको मुक्त कर देना ही उसकी पात्रता है। इन सबका कारण अहंकार है जिसके छूटते ही व्यक्ति का आत्मा से उसी क्षण सम्पर्क हो जाता है, थोड़ी भी देरी नहीं होती। सारी देरी लगती है तो इन सबके प्रति अपनी धारणा, अपनी दृष्टि बदलने में। यदि दृष्टि बदल गयी तो सबकुछ बदल जाता है। यह दृष्टि परिवर्तन, बोध से ही संभव है किन्तु बोध न होने पर साधना आवश्यक होती है जिससे बोध हो जाय। राजा - जनक

ने अष्टावक्र के सामने उसी समय समर्पण कर दिया और कहा कि 'यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सबकुछ मैं आपको समर्पित करता हूँ आप इसका जैसा चाहें उपयोग करें।' समर्पण भाव आते ही अहंकार खो गया, जनक पिघल गए, वाष्प बन गए, शून्य हो गये, स्थूल से संबंध छूट गया, सूक्ष्म में प्रवेश कर गये। अष्टावक्र ने पात्रता देखकर अपना सम्पूर्ण ज्ञान पात्र में उड़ेल दिया। पात्र खाली था वह भर गया। पहले भरा था इसलिए उसमें भरने की गुंजाइश नहीं थी। कहा है- "भरो होइ सो रीतई, रीतो होय भराय।" जो संसार से भरा है, अहंकार, वासना से भरा है, वह आत्म-ज्ञान से रीता ही रह जाता है किंतु जो संसार से रीता हो गया वही भर जाता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि का रहस्य है। इस रिक्तता की स्थिति में अष्टावक्र ने जनक के अनतःकरण को छू लिया व जनक को घोड़े के दूसरे पागड़े में पाँव रखने के पूर्व ही आत्म-बोध हो गया, घटना एक क्षण में घट गयी, वे उसी समय ध्यानस्थ होकर समाधि में पहुँच गये। घोड़े के दूसरे पागड़े पर पैर रखने की भी सुध न रही। अष्टावक्र पास ही बैठ गये। इस प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये। राज्य में हो हल्ला मच गया। राज्य में अव्यवस्था होती देख कुछ मंत्रीगण राजा को ढूंढ़ने निकले तो देखा जंगल में राजा घोड़े के एक पागड़े पर पाँव दिये खड़े हैं व अष्टावक्र समीप ही बैठे हैं। दोनों मौन व शांत हैं। एक मंत्री ने राजा से कहा - महाराज! तीन दिन हो गये। राज्य-कार्य में अव्यवस्था हो रही है। अब आप पुनः राजधानी चलिए। इस पर जनक ने कहा - अब कौन चले, न यह शरीर मेरा है और न मन। वह तो गुरू को समर्पित कर चुका हूँ। अब जैसा गुरू का आदेश होगा वैसा ही करूँगा। अष्टावक्र समझ गये कि इसे समाधि लाभ हो चुका है, आत्म - बोध हो

चुका है, केवल एक ही झटके में सारे बंधन तोड़कर यह मुक्त हो चुका है, अतः उन्हे फिर से राजधानी जाकर राज्यकार्य चलाने का आदेश दिया।

उक्त घटना जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही रहस्यमयी भी कि किसी को सुनते-सुनते ही आत्म-ज्ञान हो गया। आत्म-ज्ञान कोई प्रक्रिया नहीं है बल्कि घटना है। जो पात्रता होने पर किसी भी समय, कहीं भी घट सकती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए विभिन्न निष्ठाएँ हैं। योग क्रिया पर जोर देता है, तन्त्र समर्पण पर किन्तु सांख्य केवल बोध की बात कहता है। सांख्य की मान्यता है कि आत्मा कहीं खोई नहीं है, वह तो उपलब्ध ही है, उसे पाना नहीं है, वह प्राप्त ही है, केवल विस्मृत हो गयी है, उसे पुनः स्मृति में लाना है। इसके लिए केवल बोध ही पर्याप्त है। और कुछ करना नहीं है। करने से अहंकार बढ़ता है वही बाधा बन जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि क्रिया-मात्र बंधन है, अक्रिया ही मार्ग है। कुछ न करके अपने को खाली मात्र कर देना ही भरने की विधि है। बुद्ध ने छः वर्ष खूब किया तो कुछ मिला नहीं। अंत में सबकुछ छोड़कर निरंजना नदी के किनारे लेट गये व शून्य की स्थिति में पहुँचें तो उसी क्षण उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हो गया। शंकराचार्य कहते हैं, "मोक्ष न योग से सिद्ध होता है, और न सांख्य से, न कर्मो से और न विद्या से, वह केवल ब्रंह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से ही होता है। और किसी प्रकार नही।" जे. कृष्णामूर्ति का सारा उपदेश सांख्य का है, अक्रिया का, केवल विचार का। 'करके' संसार को प्राप्त किया जा सकता है किन्तु परमात्मा के लिए हम केवल स्थान मात्र बना दें, यही पर्याप्त है। किन्तु यह सांख्य हर व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। प्रखर बुद्धि व तीव्र प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही इस विधि का उपयोग कर सकता है। सामान्य व्यक्ति को सांख्य समझ में

नहीं आ सकता। उसे किसी क्रिया से गुजरना पड़ेगा। भक्त हृदय के लिए प्रेम मार्ग है। वहाँ योग, हठ्योग, सांख्य काम नहीं करेगा। भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग। जनक में बोध ग्रहण करने की पात्रता थी इसलिए अष्टावक्र का प्रभाव हो गया अन्यथा असंभव था। कुछ भी रहा हो, सांख्य पर दिया गया ऐसा अनूठा उपदेश, आज तक नहीं दिया गया। अष्टावक्र जैसा गुरू और जनक जैसा शिष्य खोजना असंभव है। यह पुस्तक आत्मज्ञान के मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए निश्चय ही एक ऐसी नौका है जिसमें बैठ्कर सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष का लाभ प्राप्त किया जा सकता है जो जीव की उच्चतम स्थिति है।

अष्टावक्र गीता का आरम्भ मुमुक्षु राजा जनक द्वारा पूछे गये तीन प्रश्नों से होता है कि ज्ञान कैसे होता है? मुक्ति कैसे होती है? तथा वैराग्य कैसे होता है? सम्पूर्ण आध्यात्म का सार इन तीन प्रश्नों में समाहित है। आध्यात्मिक उपलब्धि में वैराग्य का होना एवं आसक्ति - त्याग पहली शर्त है इससे होता है आत्म-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति होती है जो जीव की सर्वोपरि स्थिति है। जनक के तीन प्रश्नों का समाधान अष्टावक्र ने तीन वाक्यों में कर दिया एवं उपदेश सुनते - सुनते ही जनक को वहीं आत्मानुभूति हो गयी। कैसा अनूठा वक्तव्य रहा होगा व जनक की कितनी पात्रता रही होगी इसका अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है। सत्य पर इतना शुद्धतम् वक्तव्य आज तक कोई नहीं दे पाया यदि इसे अध्यात्म से निकाल दिया जाय तो आत्म-ज्ञानी को उस पूर्ण की उपलब्धि कैसे अनुभव होती। यह जानना ही कठिन हो जाएगा। वेद, पुराण, उपनिषद् भी इसके सामने फीके नजर आते हैं। कृष्ण की गीता का पात्र अर्जुन विभिन्न प्रकार

की मानसिक समस्याओं में उलझा है। उसकी न ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा है न उसमें कर्तव्य - बोध है। वह क्षत्रिय है, युद्ध-क्षेत्र में खड़ा है, आततायियों की चुनौतियाँ उसके सामने हैं किन्तु वह अपने कर्तव्य-कर्म से भागना चाहता है, झूठी तर्क संगति देता है। कभी पाप-पुण्य की, कभी स्वर्ग-नरक की, कभी सन्यास की बातें करता है किन्तु न उसमें कर्तव्य-बोध है और न गुरू के प्रति निष्ठा। भगवान् कृष्ण उसे सभी प्रकार के आध्यात्मिक पक्षों को समझाते हुए कर्तव्य-बोध कराते हैं किन्तु अर्जुन अधिक प्रज्ञावान न होने से वह हर समाधान पर नये - नये तर्क देता है। उसकी ऐसी भ्रमित बुद्धि को देखकर कृष्ण ने अपने सारे प्रयत्न निष्फल होते देखे तो वे उसे अपने विराट्-स्वरूप का दर्शन कराते हैं, तब कहीं अर्जुन को कृष्ण के व्यक्तित्व का पता चलता है तो वह समर्पण के साथ ही उस सत्य वाणी का ग्राहक बन जाता है जिससे वह उस युद्ध को जीत सका। राजा जनक अर्जुन से कहीं अधिक नम्र, शुद्ध चित्त, मुमुक्षु, प्रतिभासम्पन्न एवं गुरू में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उन्होंने एक भी शंका नहीं उठायी, न झूठे तर्क दिये। गुरू के कहते ही समर्पित हो गये। यह समर्पण ही द्वार बन गया जिससे गुरू उसमें फौरन प्रवेश कर गये। पूर्ण बोध से ही घटना घट गयी। आत्म-ज्ञान में समस्या ज्ञान की नहीं, उलझे मन की है। मन की सफाई में ही सारा समय लग जाता है, फिर भी व्यक्ति रीता ही रहा जाता है। शुद्ध एवं स्वच्छ मन इसकी अनिवार्य शर्त है। कोई इसे पूरी मात्र कर दे तो गुरू का प्रसाद तत्काल उपलब्ध हो जाता है इसमें एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। राजा जनक जैसी पात्रता होने पर हर व्यक्ति को ऐसी घटना घट सकती है। इसमें धर्म, सम्प्रदाय, देश, जाति, काल कोई बाधा नहीं है। यदि कोई इसे गम्भीरता से हृदयंगम कर ले तो आत्मबोध की

झलक मिल सकती है। कहते हैं विवेकानन्द जब रामकृष्ण के पास गये व परमात्मा का प्रमाण पूछा तो रामकृष्ण ने उन्हे अष्टावक्र गीता पढ़ने को दी कि तुम इसे मुझे पढ़कर सुनाओ। मेरी दृष्टि कमजोर है। कहते है विवेकानन्द इस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते ही ध्यानस्थ हो गये व उनके जीवन में क्रांति घट गयी।

आध्यात्मिक-क्रांति बोध से आती है। अन्य क्रियाएँ कहीं काम नहीं आतीं। अष्टावक्र ने कहा है – चर्मकार चमड़ी को देखता है व ज्ञानी आत्मा को। आत्मा को देखने की क्षमता आना ही उसकी पात्रता है जिससे उपलब्धि संभव है। जनक ऐसे ही प्रज्ञावान थे जिनको थोड़े से ही प्रयास से आत्मबोध हो गया। पूर्व जन्म की पात्रता रही होगी तथा इस जन्म में मुमुक्षा। इन दोनों कारणों के उपस्थित होने से ही घटना शीघ्र घट गयी। सौ अंश ताप पर पानी खौलता है। जिसको निन्यानवें अंश ताप पूर्व-जन्म में ही मिल चुका है वह केवल एक अंश ताप मिलते ही खौल उठता है किन्तु पूर्व-जन्म में जिसे दस अंश ताप ही मिला है उसे नब्बे अंश की आवश्यकता पड़ती है। उपलब्धि में समय की भिन्नता का यही कारण है। फिर मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं – ज्ञानी, मुमुक्षु, अज्ञानी और मूढ़। ज्ञानी वह है जिसे ज्ञान प्राप्त हो चुका है, मुमुक्षु वह है जो ज्ञान-प्राप्ति के लिये लालायित है, उसे हर कीमत पर प्राप्त करना चाहता है, अज्ञानी वह है जिसे शास्त्रों का ज्ञान तो है किन्तु उपलब्धि के लिये कोई रूचि नहीं रखता तथा मूढ़ वह है जिसे इस अध्यात्म जगत् का कुछ भी पता नहीं है, न जानना चाहता है। वह पशुओं की भाँति अपनी शारीरिक क्रियाओं को पूर्ण मात्र कर लेता है। वह शरीर में ही जीता है। इनमें मूढ़ से अज्ञानी श्रेष्ठ हैं, अज्ञानी से मुमुक्षु श्रेष्ठ

हैं। ज्ञानी सर्वोत्तम स्थिति में है।

कुछ चीजों का अस्तित्व है किन्तु उनके प्रमाण नहीं दिये जा सकते। जो आँख से देखने की है, जिसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है उनको प्रमाण से सिद्ध करना असम्भव है। अन्धे को सूर्य को प्रमाणित करके नहीं समझाया जा सकता हैं उसे रंगों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। प्रेम, दया, करूणा, दर्द, पीड़ा, आनंद को नहीं दिखाया जा सकता है न उन्हे प्रमाणित ही किया जा सकता है। ये स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है। बुद्धि की एक सीमा है, जहाँ तक कि यह निर्णय ले सकती है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि उसकी पकड़ से बाहर हैं। ये इन्द्रियों के विषय ही नहीं हैं। इन्द्रियाँ स्थूल को पकड़ सकती है, सूक्ष्म छूट जाता है। सूक्ष्म को पकड़ने की विद्या दूसरी ही है जिसका उपयोग करने पर सूक्ष्म भी ग्राह्य हो जाता है। यह विद्या ध्यान व समाधि की है जिसमें व्यक्ति स्थूल जगत् के पार सूक्ष्म के भी दर्शन कर सकता है, उस आभास या बोध को प्राप्त कर सकता है। स्थूल, सूक्ष्म का ही रूपांतरण है। यदि सूक्ष्म जगत् नहीं है तो स्थूल की उत्पत्ति भी असंभव हो जाती है। अज्ञानी स्थूल को ही पकड़ पाते हैं और ज्ञानी सूक्ष्म को भी पकड़ लेते हैं। आध्यात्म इसी सूक्ष्म को पकड़ने का विज्ञान है। इसकी कुछ शर्तें हैं जिसे पूरा किये बिना सूक्ष्म का ज्ञान नहीं हो सकता। आत्म-ज्ञान के लिये निर्विकार चित्त व साक्षी भाव चाहिये। महर्षि पंतजलि ने कहा है "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" (चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है) इन चित्त की वृत्तियों को रोकने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं किन्तु उच्च-बोध होने पर इन विधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान् बुद्ध ने भी कहा है कि "जो समझ सकते हैं उन्हें मैंने बोध दिया है व नासमझों को

मैंने विधियाँ दी हैं।" नासमझों के लिये बोध काम नहीं करेगा, उनके लिये विधियाँ ठीक है। राजा जनक में बोध था, विद्वान थे, समझ थी अतः अष्टावक्र ने उन्हें कोई विधियाँ नहीं बतायीं। न यम-नियम साधने को कहा, न गायत्री पुनश्चरण करवाया, न पूजा-पाठ की शिक्षा दी। सीधे बोध को छुआ व जनक जाग उठे। यह जनक का कौशल्य था कि जिससे सुनते-सुनते ही आत्म-ज्ञान हो गया और कुछ करना नहीं पड़ा। गुरू ने भी उपयुक्त पात्र देखकर अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया होगा तभी यह संभव हुआ।

अष्टावक्र का ज्ञान प्राप्ति हेतु मात्र उपदेश इतना ही था कि आत्म-ज्ञान के लिये कुछ नहीं करना है। क्रिया मात्र बन्धन है। क्रिया के साथ फल की आकांक्षा सदा लगी रहती है, इनके साथ अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है व उसका निश्चित फल अवश्यच मिलता है। यही मुक्ति में बाधा बन जाती है। अष्टावक्र ने समाधि का अनुष्ठान भी बाधक बताया है। अष्टावक्र का सारा उपदेश बोध का है, जागरण का है। मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार में जीता है। इन्हीं से उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि इन्ही से जुड़े हैं। इन्हीं के कारण वह भोगों में रूचि लेता है। जीवन समस्या नहीं है किन्तु मनुष्य के गलत दृष्टिकोण ने ही उसे समस्या बना दिया है जैसे मकड़ी स्वयं जाला बुनती है व स्वयं उसमें फँस जाती है। कोई दूसरा उसका कारण नहीं है। ऐसी ही स्थिति मनुष्य की है कि ये सभी बंधन उसने स्वयं ही निर्मित किये हैं व स्वयं ही उसमें उलझ कर रह गया है। किन्तु मनुष्य न शरीर है, न मन, न बुद्धि, न अहंकार। वह शुद्ध चैतन्य मात्र है। शरीरस्थ यह चैतन्य ही आत्मा है व विश्व की समसत आत्माओं का एकत्व भाव ही ब्रह्म है। दोनों

अभिन्न हैं। यह चैतन्य न कर्त्ता है, न भोक्ता है, न इसका बन्ध है, न मोक्ष। यह सबका साक्षी, निर्विकार, निरंजन, क्रियारहित एवं स्वयं–प्रकाश है। यह समस्त सृष्टि में व्याप्त है। सृष्टि का आधार ही यह चैतन्य है। सृष्टि इसी चैतन्य की अभिव्यक्ति मात्र है। सृष्टि अनित्य है, यह चैतंन्य, शास्वत व नित्य है। यही मूल तत्व है। सृष्टि इसी के सृजन का परिणाम है। ऐसे चैतन्य का बोध हो जाना ही मुक्ति है। इस मुक्ति के लिए अष्टावक्र कहते हैं कि, "इन सांसारिक विषयों के प्रति जो तुम्हारी आसक्ति है उसे विष के समान छोड़ दे तथा स्वयं को वही शुद्ध चैतन्य आत्मा मानकर उसमें निष्ठापूर्वक स्थित हो जा। यही है वैराग्य, ज्ञान व मुक्ति का रहस्य।" सारे आध्यात्म का रहस्य मात्र तीन सूत्र में खोलकर रख दिया। यह गुरु की महत्ता है व शिष्य की पात्रता कि उसे जनक ने उसी क्षण ग्रहण कर लिया। न कोई तर्क दिया, न शंका प्रकट की, न अविश्वास, न अपनी बुद्धि व शास्त्रीय ज्ञान को बीच में अड़ाया। पूर्ण श्रद्धा से इन वाक्यों को अमृत के समान पी गये। इस कथन के बाद अष्टावक्र मन, अहंकार, शरीर, चैतन्य, आत्मा की थोड़ी सी व्याख्या मात्र देते हैं जिससे ये तथ्य जनक को सुपाच्य हो जाय। इतने कम श्रम से जनक को पूर्ण आत्म–बोध हो गया तथा वे उसकी अभिव्यक्ति देने लगे। अष्टावक्र को विश्वास तो हो गया कि इसे आत्म–बोध हो चुका है किन्तु उसे और दृढ़तर बनाने के लिये जनक की परीक्षा हेतु अनेक प्रश्न करते हैं। जनक इस सम्पूर्ण परीक्षा में सौ प्रतिशत अंकों से उत्तीर्ण होते हैं। कितना अद्‌भुत व्यक्ति रहा होगा जनक।

कहते हैं कि राई की ओट में पर्वत छिपा है किन्तु उस राई की ओट को भी कोई सद्‌गुरु ही हटा सकता है। यह पर्दा आत्मा पर नहीं हमारी

आँख पर पड़ा है। आत्मा तो निर्वस्त्र है, प्रत्यक्ष है, सामने है। देखने की क्षमता मात्र आनी चाहिए। सद्‌गुरू दृष्टि या बोध देखकर उसे अनावृत्त करता है। शिष्य के ज्ञान के लिये गुरू की उपस्थिति मात्र पर्याप्त है जिससे घटना घटती है। मीरा, कबीर, संत ज्ञानेश्वर, विवेकानन्द, भर्तृहरि आदि अनेकों उदाहरण हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि आत्म-ज्ञान में गुरू की अनिवार्यता है। इसीलिए आध्यात्मिक उपलब्धि में गुरू का महत्व सर्वोपरि है। गुरू ईश्वर का ही प्रतिरुप होता है, वही ईश्वर का साकार अवतार है, उसकी महिमा ईश्वर से किसी प्रकार से कम नहीं है। ईश्वर भी गुरू के माध्यम से ही सहायता करता है। ज्ञानार्थी को गुरू ही मार्ग दिखाता है किन्तु उपलब्धि स्वयं की पात्रता के बिना नहीं हो सकती। दोनों जहाँ मिल जाते हैं वहीं लोहा पारस के सपर्क में स्वर्ण बन जाता है। शिष्य की पात्रतां के लिये आवश्यक है उसकी मुमुक्षा, प्रखर प्रज्ञा, श्रद्धा, समर्पण भाव, नम्रता एवं पूर्व जन्म में अर्जित ज्ञान। योगवशिष्ठ में कहा है, "शिष्य की विशुद्ध प्रज्ञा ही तत्व-साक्षात्कार का कारण है।" महर्षि विश्वामित्र ने भी कहा है, "गुरू वाक्य से जो तत्व ज्ञान प्राप्त होता है उसका कारण शिष्य की प्रज्ञा ही है।" ऐसी प्रज्ञा अनेक जन्मों के सुकृत्यों के फल से प्राप्त होती है। जीवन एक नहीं बल्कि अनेकों जन्मों की श्रृंखला में एक कड़ी है। वर्तमान जीवन पूर्वजन्म की भित्ति पर खड़ा है तथा भविष्य का निर्धारण करने वाला है। जीवन में किया गया हर कृत्य अगले जीवन पर अपनी छाप छोड़ता है। ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा भी पूर्व जन्म के संस्कारों के बिना नहीं होती जब संस्कार तीव्र हो जाते हैं तब वह व्यक्ति सद्‌गुरू की कृपा का प्रसाद अनायास ही प्राप्त कर लेता है। जैसा जनक के साथ हुआ वैसा सबके साथ हो सकता है यदि

पात्रता की शर्त पूरी कर दी जाय। इसीलिए कहा है :-

गुरूर्ब्रह्माः गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो, महेश्वरः।

गुरूः साक्षात् पर ब्रह्म तस्मैं श्री गुरवे नमः।।

(ii) अष्टावक्रगीता का समयः

अष्टावक्रगीता, अष्टावक्र ऋषि द्वारा राजा जनक को दिया गया उपदेश है अतः अष्टावक्रगीता का समय वही है जो अष्टावक्र ऋषि और राजा जनक का समय है इन दोनों ही महान विभूतियों के बारे में समय का निर्धारण आज तक नहीं हो सका है, चूँकि राजा जनक दशरथ पुत्र राम के समय में थे और राम के समय में ही महर्षि बाल्यमीकि ने रामायण की रचना की थी, अतः राम के समय निर्धारण और रामायण की रचना काल के निर्धारण से अष्टावक्र ऋषि और अष्टावक्र गीता का काल निर्धारण हो सकता है अतः हम अब तक उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर राम का काल निर्धारण करते हैं -

> [1]"अमेरिकी अंतरिक्ष संस्था "नासा" के उपग्रह द्वारा अभी हाल ही में लिए गये भारतीय उपमहाद्वीप के चित्र में भारत और श्रीलंका के बीच 17 लाख वर्ष पुराने पुल के होने का साक्ष्य मिला है तथा पुरात्त्वविद् यह प्रमाणित करते हैं कि श्रीलंका में 17.50 लाख वर्ष पूर्व मानव निवास करता था, रामायण में

---

[1] दिनांक 10.10.2002 को 'आजतक' टी.वी. चैनल से प्रसारित समाचार

नल, नील नामक वास्तुकारों द्वारा राम की सेना के लंका में प्रवेश हेतु पुल निर्माण की बात वर्णित है, अतः पुरात्त्वविद् यह सम्भावना प्रकट कर रहे हैं कि रामायण में वर्णित नल और नील द्वारा निर्मित पुल का ही चित्र "नासा" के उपग्रह द्वारा लिया गया है"। इस प्रकार राम का काल ई0पू0 लगभग 17 लाख वर्ष पूर्व होता है इस आधार पर आचार्य अष्टावक्र और अष्टावक्रगीता का समय 17 लाख वर्ष पूर्व निर्धारित होता है।

'नासा' के चित्र से रामायण में वर्णित सेतु बंधु रामेश्वरम् पुल, जो कि राम की सेना के लंका में प्रवेशं हेतु नल-नील ने बनाया था, की पुष्टि होती है।

अब हम महर्षि बाल्मीकि द्वारा रचित रामायण के समय पर विचार करते हैं। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय पर पर्याप्त विचार विनिमय किया है, और सैकड़ो निबंध प्रस्तुत किये हैं उनका निष्कर्ष निम्नलिखित प्रकार से है -

[1]वरदाचार्य - राम त्रेता युग में हुए त्रेता युग ईसा से 8 लाख 67 हजार 1 सौ वर्ष पूर्व समाप्त हुआ था बाल्मीकि राम के समकालीन थे। अतः रामायण की रचना का समय पूर्वोक्त है।

---

1 संस्कृत साहित्य का इतिहास -वरदाचार्य- पृष्ठ 66-67
(संदर्भ ग्रन्थ - संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, लेखक - डा0 कपिल देव द्विवेदी)

[1]गोरेश्यो (G. Gorresio) 1200 ई0पू0

[2]याकोबी (Jacobi) 800 ई0पू0 से 500 ई0पू0

[3]मैकडानल (Macdonell) 500 ई0पू0, संशोधन 200 ई0पू0

यद्यपि कि पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की सभ्यता और संस्कृति की गहराई को तथा उसकी समय सीमा को बहुत सीमित काल खंड में दिखाने का प्रयास किया है, तथापि आज जबकि वैज्ञानिक प्रगति बहुत तेजी के साथ होती जा रही है, तो इससे यह भी स्पष्ट तौर पर सिद्ध होता जा रहा है कि भारत वर्ष की ऋषि परम्परा और संस्कृति लाखों वर्ष पुरानी है इन सब तर्कों में "नासा" के उपग्रह द्वारा लिया गया भारत और श्रीलंका के बीच सम्पर्क मार्ग जो कि 17 लाख वर्ष पुराना है राम क़े काल निर्धारण में भारतीय मान्यता के अनुरूप है। इस प्रकार अष्टावक्र ऋषि चूँकि राम के समय में थे इसलिए अष्टावक्र गीता का उपदेश भी 17 लाख वर्ष पुराना ही माना जाना चाहिए।

---

1 रामायण, भाग 10, भूमिका

2. डस रामायण' पृष्ठ 101 से आगे

3. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ 306-309
(संदर्भ ग्रन्थ - संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, लेखक - डा0 कपिल देव द्विवेदी)

(iii) अष्टावक्रगीता का सामान्य परिचयः

अष्टावक्रगीता भारतीय आध्यात्म का शिरोमणि ग्रन्थ है, जिसकी तुलना अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की अनेक विधियाँ हैं - ज्ञान है, कर्म है, भक्ति है, योग है, प्रार्थना है, ध्यान है, जिससे मनुष्य को आत्म-स्वरूप का बोध होता है। विभिन्न धर्मों में विभिन्न विधियाँ अपनायी जाती हैं किन्तु अष्टावक्र सीधा अज्ञान पर चोट करते हैं। वे किसी विधि, क्रिया, पूजा, प्रार्थना, ध्यान, कर्म, भक्ति, भजन, कीर्तन, हठ्योग आदि कुछ भी आवश्यक नहीं मानते। उनका मानना है कि सभी क्रियाएँ भटकाने वाली हैं। क्रिया मात्र अहंकार के कारण अपनायी जाती हैं तथा वे अहंकार को बढ़ाती हैं। जिससे आत्म-ज्ञान में बाधा पड़ती है। ये सभी क्रियाएँ आडम्बर व दिखावा मात्र हैं जिससे मनुष्य धार्मिक दिखायी देता है किन्तु उपलब्धि नहीं हो सकती। उपलब्धि के लिये बोधमात्र पर्याप्त है। अंधकार का अस्तित्व नहीं है। वह प्रकाश का अभाव मात्र है। अन्धकार को हटाने का सीधा प्रत्यत्न करना मूखर्ता है। एक दीपक जला दो, अन्धकार अपने आप लुप्त हो जाएगा। कुछ करना नहीं पड़ेगा। किन्तु लोग दीपक जलाना छोड़कर अन्धकार को सीधा हटाने की प्रक्रिया में सब साधनाएँ कर रहे हैं जो व्यर्थ ही नहीं मूर्खतापूर्ण भी हे। केवल ज्ञान प्रकाश लाना पर्याप्त है जिससे सारा संसार अज्ञान रूपी अंधकार से मुक्त हो जाएगा तथा मनुष्य स्व-चेतन में विश्राम कर शांति को प्राप्त होगा। ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग केवल बोध है। आत्मा कहीं खोई नहीं है, अज्ञाान के कारण उसे विस्मृत कर दिया है, इसे पुनः स्मृति में लाना है। यदि एक बार वह स्मृति में आ जाय तो संसार का यह समस्त मायाजाल रूपी अन्धकार एक क्षण में विलुप्त हो जाएगा। अष्टावक्र ने ऐसा केवल

उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि राजा जनक पर प्रयोग करके वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखा दिया है कि यह कोई सैद्धान्तिक वक्तव्य नहीं है बल्कि प्रयोग - सिद्ध वैज्ञानिक सत्य है। यह न भविष्यवाणी जैसा, न राजनेताओं के आश्वासन जैसा, न पुराणों की कथाओं जैसा, न वेदों की प्रार्थनाओं जैसा। यह सबसे अनूठा वक्त्व्य है जो सीधे ही बोध को जागृत करता है। इस दृष्टि से इसे भारत का ही नहीं, विश्व-आध्यात्म का शिरोमणि ग्रन्थ माना जाता रहा है।

आध्यात्म जगत् में तीन ही निष्ठाएँ महत्वपूर्ण हैं - ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा मनुष्य में दो प्रकार के व्यक्तित्व हैं - अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी। बहिर्मुखी के लिए कर्म व भक्ति मार्ग अनुकूल पड़ता है तथा अंतर्मुखी के लिए ध्यान। बहिर्मुखी को ज्ञान या बोध का मार्ग समझ में नहीं आ सकता। विद्वान, प्रज्ञावान, प्रखर बुद्धि एवं चेतना वाला ही इसे ग्रहण कर सकता है। इसी कारण अष्टावक्र का उपदेश जनसामान्य में अधिक प्रचलित नही हो पाया। अष्टावक्र की पूरी विधि सांख्य की हैं जिसमें करना कुछ नहीं है। अक्रिया ही विधि है, बोध या स्मरण मात्र पर्याप्त है। यदि यह जान लिया कि मैं शरीर, मन आदि नहीं हूँ, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ तो सारी भ्रांतियॉ मिट जाती हैं व यही मोक्ष है। मोक्ष कोई स्थान नहीं हैं बल्कि चित्त की एक अवस्था है जिसमें स्थित हुआ जीव परमानन्द का अनुभव करता है। कृष्ण की गीता में ज्ञान, भक्ति, कर्म सबका समन्वय है किनतु सर्वाधिक जोर कर्म पर है। अर्जुन कर्म-योगी हैं, क्षत्रिय हैं, युद्ध के मैदान में खड़ा है, आततायियों का विनाश करना उसका कर्तव्य है। युद्ध से भागना कायरता है। अपने कर्म को सच्चाई, ईमानदारी, पूर्ण - निष्ठा व लगन के साथ करने

वाला भी स्वर्ग का अधिकारी होता है। फिर यदि निष्काम भाव से लोक-हितार्थ, ईश्वर की आज्ञा समझकर जो समर्पण भाव से कर्म करता है उसके वे कर्म बंधन का कारण नहीं बनते। अहंकारवश अपने स्वार्थ के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे ही बंधन का कारण बनते हैं। कृष्ण का गीता का उपदेश मुख्यतः सांसारिक व्यक्तियों के लिए है अतः उसका महत्व सबके लिए है किन्तु अष्टावक्र का उपदेश केवल मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए ही है। इसलिए सामान्यजन इससे अप्रभावित रहा है। यह साधु - सन्यासियों, ध्यानियों व अन्य साधनारत व्यक्तियों का सच्चा मार्ग-दर्शन है। अष्टावक्रगीता में अष्टावक्रऋषि कृष्ण जैसी अनेक विधियाँ नहीं बताते। वे एक ही बोध की विधि बताते हैं जो अनूठी, भावातीत, समय, देश और काल की सीमा के परे पूर्ण वैज्ञानिक है। बिना लाग-लपेट के, बिना किसी कथा व उदाहरण के, बिना प्रमाणों व तर्कों के दिया गया यह शुद्धतम् गणित जैसा वक्तव्य है जैसा आज तक आध्यात्म जगत् में नहीं दिया गया। यह आध्यात्म की एक ऐसी धरोहर है जिसके बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। यह समझने के लिए नहीं है, पीने व पचाने के लिये है। जो समझने का प्रयत्न करेगा वह निश्चित ही चूक जाएगा। सागर को चम्मच से नापने के समान होगा।

भारत में अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर को छुआ है जिसे कुछ ही धर्म छू पाये हैं। यह शिखर है अद्वैत का। अद्वैत इस सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वर की कृति नहीं अभिव्यक्ति मानता है। यह सारा फैलाव उसी का है। सृष्टि में ईश्वर नहीं बल्कि यह सृष्टि ही ईश्वर है, आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म भिन्न नहीं हैं जीव और जगत् में भिन्नता नहीं है। प्रकृति व पुरूष एक ही तत्व

बोध के आधार पर उसने 'सर्व खल्विदं ब्रह्मं', 'अयमात्मा ब्रह्मं', 'ईशावास्यमिंद सर्वं' एवं 'विश्वबंधुत्व की उद्घोषणा की। आत्मज्ञान पर जितने भी ग्रन्थों की रचना हुई है, उनमें से अष्टावक्रगीता को सर्वश्रेष्ठ कह सकते हैं। यही कारण है कि विज्ञजनों द्वारा इसे केवल गीता ही नहीं, महागीता की संज्ञा दी जाती है। अल्प आयु आठ स्थानों से विकृत शरीर वाले अष्टावक्र का जनक जैसे ज्ञानी को शास्त्रार्थ में पराजित करना और जनक का शिष्यत्व ग्रहण करके परम् श्रद्धा से उपदेश सुनना एक अनहोनी और आश्चर्यजनक घटना है। उस युग के विद्वान शिरोमणि महर्षि ज्ञानवल्क्य के शिष्य और व्यासपुत्र शुकदेव मुनि के उपदेष्टा जनक को ज्ञान का उपदेश देने वाला कोई अधिकारी तत्त्ववेत्ता ही हो सकता है। यह साधारण उपदेश नहीं। इसे ज्ञानियों का वेद, उपनिषद्, गीता कुछ भी कह सकते हैं। आत्मज्ञान संबंधी जनक की शंकाओं का समाधान और अनुभूतियों का संग्रह इसमें है। यदि इसे पुस्तक कहें तो इसे विश्व की चुनी हुयी पुस्तकों में से एक कह सकते हैं क्योंकि इसका अध्ययन करने के पश्चात् फिर अन्य पुस्तकों के मार्ग दर्शन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

वास्तव में यह ग्रन्थ नहीं, प्रकाश है, प्रकाश नहीं प्रकाश पुञ्ज है जिसके साथ हजारों ज्योतियाँ जुड़ी हुयी है। इसकी एक ज्योति की एक किरण किसी भी जीवात्मा पर पड़ जाय तो उसे शांति और महाशांति की उपलब्धि हो जाय। तत्वज्ञान के इस समुद्र की एक बूंद से भी जिसका अभिसिंचन हो गया, वह दुःखों से पार हो जाता है।

भारतीय आध्यात्म स्वर्ग-नरक को मन ही की भूमिका मानता है। मृत्यु के बाद एवं पुनर्जन्म लेने से पूर्व जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार

स्वर्ग–नरक की अनुभूति करती है। यह समय–अन्तराल का समय (ड्रीम पीरिएड) है, जहाँ जीवात्मा अपने भौतिक शरीर को त्यागकर मन एवं वासनाओं सहित अपने सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहती है तथा अपनी वासनापूर्ति हेतु समय आने पर पुनः नया भौतिक शरीर धारण करती है। अन्तराल के समय में न उसका विकास होता है, न भौतिक शरीर के अभाव में अपनी वासना की पूर्ति ही कर सकती है, जिससे वह जीवात्मा बड़ी वेदना का अनुभव करती है। वह पुनः भौतिक शरीर धारण करने की आकांक्षा रखती है किन्तु अपने कर्मों के अनुसार यह शरीर उसे एक निश्चित अवधि के बाद ही मिलता है तब तक उसे इस अन्तराल में भटकते रहना पड़ता है। विषयों के प्रति वासना का होना ही इस जन्म–मरण के चक्कर में डालता है। भारतीय आध्यात्म स्वर्ग को भी वासना ही मानता है। अतः यह भी जीवात्मा की सर्वोपरि स्थिति नहीं है। इससे ऊपर की स्थिति मुक्ति की है जिसमें वह संपूर्ण भोगों एवं विषय–वासनाओं से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र स्थिति का अनुभव करता है। इसमें वह जन्म–मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। विषयों के प्रति जो वासनाएँ हैं, आसक्ति है उसे छोड़ने का एक ही उपाय है, वैराग्य, जो पहली शर्त है। इस शर्त को पूरी करने से होता है – ज्ञान व ज्ञान से मुक्ति होती है। यही अष्टावक्र का उपदेश है। एवं यही इस गीता का सार तत्व है।

शरीर स्थूल है, सृष्टि स्थूल है जो दिखायी देती है किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह दिखायी नहीं देता है। शरीर में आसक्ति होने से वह विषय भोगों की ओर प्रवृत्त होता है। आत्मा सूक्ष्म है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव न होने से मनुष्य उसे जानने से वंचित रह जाता है। वासना में फंसा

हुआ मन उसे इतना भटका देता है कि वह आत्मा को ही भूल जाता है। इस संसार प्रपंच में जो कुछ हो रहा है, वह इसी आत्म-अज्ञान का फल है। किन्तु कुछ बुद्ध पुरुष उसकी याद दिलाकर भक्त को इस सम्बंधों से छुटकारा दिलाकर मुक्ति की ओर ले जाते हैं। समय-समय पर ऐसे अनेकों बुद्ध-पुरुष अवतरित हुए हैं जिनके मार्गदर्शन से अनेकों भटकती हुयी जीवात्माओं का उद्धार हुआ है। अष्टावक्र भी ऐसे ही बुद्ध - पुरुष थे, जिनका नाम आध्यात्मिक - जगत् में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है।

अष्टावक्र गीता के अनुसार "चैतन्य सत्ता सर्वत्र अर्थात चेतन प्राणियों और जड़ पदार्थों में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण अस्तित्व का आधार है, परम सत्ता चेतन को जड़ तथा जड़ को चेतन कर देने में समर्थ है।" महात्मा तुलसीदास ने भक्ति भाव से स्फुरित होकर कहा -

[1]"जो चेतन को जड़ करइ।,

जड़हि करइ चैतन्य।।

अस समर्थ रघुनायकहि।

भजहि जीव तेधन्य।।"

गोस्वामी तुलसी दास जी रामचरित में इसी बात को एक जगह इस प्रकार से कहते हैं :-

---

संदर्भ ग्रन्थ -

1. राम चरित मानस, उत्तर काण्ड (7/119)

[1]"जो तृन ते कुलिस कर।

कुलिस ते कर तृन सही।।

अष्टावक्र गीता के इसी तत्व का विवेचन महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने अपने एक सूत्र के माध्यम से इस प्रकार से किया है:-

[2]

$E = Mc^2$ { शक्ति; द्रव्यमान; प्रकाश का वेग; ($3x10^8$ मी0प्रति सेकेन्ड) }

इसे प्रकारान्तर से कहा कि "उर्जा ही पदार्थ का आधार है, तथा पदार्थ उर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाता है और उर्जा पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है।" इसी सूत्र ने आइंस्टीन को दुनिया का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक बना दिया।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य एक ही सत्त्व अथवा ब्रह्म है, यद्यपि उनकी कथन शैली भिन्न-भिन्न है।

---

1. **सन्दर्भ ग्रंथः-**
   राम चरित मानस, लंका काण्ड (6/80वां छन्द)

2. **आइंस्टीन का उर्जा का प्रसिद्ध सूत्र।**

अष्टावक्र गीता में जिस सत् तत्त्व का विवेचन अष्टावक्र ऋषि ने किया है कुछ उपनिषदों में उसी बात को इस प्रकार से कहा गया है।

[1]आत्मैवेदं सर्वम्।

[2]ब्रह्मैवेदं।

[3]सर्वं खल्विदं ब्रह्म्।

[4]वासुदेवः सर्व मिति।

सच्चिदानंद स्वरुप आत्मा को जानकर इस लोक से चला जाने वाला ब्राह्मण (महापुरूष) होता है, तथा उसे बिना जाने चला जाने वाला मनुष्य कृपण (अभागा) होता है।

इसी प्रकार महान ऋषि अष्टावक्र के तत्व विवेचन को ही कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों में उपरोक्त की भांति इस प्रकार से कहा गया है।

[5]ज्ञानाग्नि से अहं भाव और पुण्य पापा आदि कर्म भस्म हो जाते हैं।

---

1 छान्दोग्य उपनिषद - 7.25.2

2. मुण्डकोपनिषद - 2.2.11

3 छान्दोग्य उपनिषद - 3.14.1

4. श्रीमद्भगवद्गीता - 7.19

5 (श्रीमद् भगवद्गीता 4.19, 4.37)

समस्त उपनिषदों का उद्घोष है कि विश्व की परम सत्ता–ब्रह्म–शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तथा वह अंतर्निहित माया शक्ति के द्वारा विश्व का संचालन नियमन एवं नियंत्रण करता है, तथा प्राणियों का आत्मा (जीवात्मा), चिदांश होने के कारण तत्वतः वही है। मनुष्य बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण सूक्ष्म स्तर पर उसकी अनुभूति कर सकता है, तथा उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है।

[1]एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्प्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

अष्टावक्र गीता में अनेक स्थलों पर गृहस्थ जन के लिए व्यावहारिक उपदेश है जैसे – अठारहवें प्रकरण का पचपनवां श्लोक–

[2]भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च, दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी, न याति विकृतिं मनाक।।

"अर्थात पुत्रों, पत्नियो और दौहित्रों से और गोत्र के बंधु–बाधवों से भी हँसकर धिक्कार किया हुआ मुक्त–पुरुष जरा सा भी विकार प्राप्त नहीं

---

1 (कठोपनिषद 1.3.12)

2. (अष्टावक्र गीता 18.55)

होता।''

अष्टावक्र कहते हैं जैसी भी परिस्थिति संयोग से उपस्थित हो जाय मनुष्य को उसे स्वीकार करके उचित कर्त्तव्य करते हुए स्वस्थ अर्थात अपने भीतर परम शान्त रहना चाहिए।

अष्टावक्र के कथन–

''यथास्थिति स्वस्थः'' – को ही श्रीकृष्ण इस प्रकार से कहते हैं

[2]''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनं''।

अर्थात – कर्म करना ही मनुष्य के अधिकार में है फल कदापि नहीं।

अतः अष्टावक्रगीता का मात्र श्रद्धापूर्वक पाठ सहज ही एक अलौकिक आनंद प्रदान कर सकता है। धन्य है वे श्रद्धालुजन जो इसका रसास्वादन कर कृतार्थ हो जाते हैं।

अष्टावक्रगीता में कुल 20 प्रकरण है जिसके प्रत्येक प्रकरण में आचार्य ने प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातें कहीं हैं।

संदर्भ ग्रन्थ–

2. श्रीमद्भगवद्गीता

प्रकरण	विषय
1-	विषयों के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति।
2-	सारा विश्व एक सत्ता है।
3-	जीव के अज्ञान से विषय - भ्रम की प्राप्ति।
4-	योगी को पाप-पुण्य कुछ भी स्पर्श नहीं करते।
5-	देहाभिमान के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति।
6-	आत्मा का त्याग, ग्रहण और लय कुछ भी नहीं होता।
7-	आत्मा अनंत महासागर के समान है।
8-	बंधन और मोक्ष क्या है?
9-	कैवल्य प्राप्ति के उपाय।
10-	तृष्णा के नाश को ही मोक्ष बताया गया है।
11-	कैवल्य प्राप्ति के उपाय।
12-	'मैं' ही सर्वत्र हूँ।
13-	हानि-लाभ के त्याग को ही सुख बताया गया है।
14-	साक्षी भाव से परमात्मा के दर्शन की चर्चा है।
15-	विषयासक्ति को ही बंधन बताया गया है।
16-	शास्त्रों के मत वैभिन्न को भूलने से ही शान्ति सम्भव।
17-	सदा तृप्त व्यक्ति ही ज्ञान का अधिकारी।
18-	मोह की निवृत्ति से ही निज स्वरूप की प्राप्ति सम्भव।
19-	तत्त्वज्ञानी के लिए न तो द्वैत है न ही अद्वैत।
20-	सभी संकल्पों-विकल्पों से मुक्त आत्म ज्ञान का मार्ग।

अष्टावक्रगीता के बीस प्रकरणों में से अंतिम दो प्रकरणों से यह प्रतीत होता है कि अष्टावक्र अजातिवादी थे, तथा इसकी पुष्टि में इन दो प्रकरणों में अजातिवाद की सिद्धि पर विशेष बल देते हैं।

द्वितीय अध्याय

परमसत्ता का स्वरूप

(1) परम सत्ता का स्वरूप

वेदान्त दर्शन की प्रमुख विशेषता है – एक सार्वभौम परमसत्ता के अस्तित्व पर विश्वास, यह परमसत्ता समग्र विश्व की परिधि का केन्द्र बिन्दु तथा आध्यात्मिक चेतना का चरम सत्य है। वेदान्त दर्शन के आचार्यो में जो भी मत वैभिन्न है, वह इस सत्ता के स्वरूप को लेकर है इसके अस्तित्व को लेकर नहीं। उपनिषदों में यो तो प्रसंगानुसार इस मूल सत्ता को अनेक नामों से सम्बोधित कियाा गया है परन्तु सबसे प्रचलित और स्वीकृत नाम ब्रह्म ही है। इसी ब्रह्म को आचार्य अष्टावक्र अष्टावक्र गीता में आत्मा, अहम्, ईश्वर तथा ब्रह्म कहकर संबोधित करते हैं।

अष्टावक्र गीता में परमसत्ता ही एक मात्र सत्य तत्त्व है। यह त्रिकालाबाध्य है। सत्य इसका गुण नहीं यह स्वयं सद्रूप है। जहॉ कहीं भी सत्ता का अनुवर्तन है, वह ब्रह्म या परमसत्ता की सद्रूपता का ही प्रतिफलन है। उसमें अध्यस्त होकर ही यह जगत् सत्य प्रतीत होता है। सत् के अतिरिक्त उसका स्वरूप चैतन्य एवं आनंदमय है, इसी स्वरूप का वर्णन आचार्य ने इस प्रकार से किया है।

[1]एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चय बह्निना।

प्रज्वालया ज्ञान गहनं वीतशोकः सुखी भव।।

---

1. अष्टावक्रगीता 1.9

"मैं एक विशुद्ध बोधरूप (ज्ञान स्वरुप, चैतन्य स्वरुप) हूँ ऐसे निश्चयरुपी अग्नि से अज्ञान रूपी वन को जलाकर, शोकमुक्त हुआ तू सुखी हो जा।"

आचार्य ने ब्रह्म को सत् कहा है जिसका अर्थ है वह असत् नहीं है। चित् कहने का आशय यह है कि वह अचित् नहीं है। वह आनंद है जिसका अर्थ वह दुःख रूप नहीं इस प्रकार ब्रह्म सत्, चित्, आनंद अर्थात सच्चिदानंद है।

परमसत्ता में कोई गुण अथवा धर्म नहीं रहते इस प्रकार वह आन्तरिक और वाह्य विभेदों से सर्वथा शून्य, अखंड, एकरस सत्ता है। वह निरपेक्ष, विर्विकार और निर्भर (चिद्घनरूप) है – आचार्य इसे इस प्रकार से बताते हैं।

[1]निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।

अगाध बुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः।।

"तू निरपेक्ष, निर्विकार और निर्भर (चिद् घन रूप भार रहित एवं आकार रहित) है, शीतल आशय (शान्ति का स्थान), अगाध चैतन्यस्वरूप, क्षोभरहित है, चैतन्यमात्र में निष्ठावाला हो जा।"

आचार्य नानात्व को नाम रूप मात्र, इन्द्रिय गोचर प्रतीति मात्र मानकर मूल में एक ऐसे तत्तव को देखते हैं जो नामरूप रहित और उसमें नाम रूप उत्पन्न करने की शक्ति है। उन्होंने ऐसे तत्त्व को सत्

---

1. अष्टावक्रगीता – 1.17

कहकर उससे उत्पन्न होने वाले नाम रूपों और नानात्व को निहितार्थ से असत् मान लिया। यदि आभूषण में स्वर्ण ही सत् है और विकार वाणी पर अवलम्बित है तो वह असत् ही सिद्ध होता है।

[1]यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।

किंपृथग्भासते स्वर्णात्कट्काङ्गदनूपुरम्।।

"जिसे तू देखता है, वहाँ एक तू ही भासता है। क्या कट्क, कङ्कण, नूपुर स्वर्ण से पृथक होता है?

स्वर्णाभूषण दृष्टान्त में जिस सत् असत् के विवेक का ज्ञान होता है वह अविकारी और विकारी का ही भेद है। अविकारी ही नित्य और अव्यय है। इसके विपरीत विकारी, अनित्य और व्यय है। प्रथम सत् है और द्वितीय असत्। तभी तो आचार्य रस्सी को सत् और उस पर भाषित होने वाले सर्प को असत् घोषित करते हैं।

[2]प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वा द्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।

रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज।।

"व्यक्त विश्व प्रत्यक्ष होता हुआ भी मिथ्या होने के कारण तुझ निर्मल में, रज्जु में सर्प की भाँति स्थित नहीं है, इसी प्रकार तू लय को प्राप्त कर।"

---

1. अष्टावक्रगीता – 15.14
2. अष्टावक्रगीता – 5.3

सर्प तभी तक वास्तविक प्रतीत होता है जब तक हम उसे प्रकाश में नहीं देखते। प्रकाश में उसकी अनित्यता सिद्ध हो जाती है और हम उसे असत् घोषित कर देते हैं। यदि हम समस्त जगत् और उसमें अपने शरीर मन बुद्धि को सम्मिलित कर सत् की इसी परिभाषा रूपी कसौटी पर कसे तो हमें आचार्य का दृष्टांत ही सत्य प्रतीत होगा क्योंकि सभी नाम रूप विकार है अतः अनित्य और व्यय है। वे सत् नहीं है। उनके मूल में विद्यमान एक तत्त्व अविकारी है। वही सत् है।

नाम रूपात्मक विकारों का निषेध करने पर जो अविकारी, शाश्वत, नित्य, वस्तु प्राप्त होती है वही परमसत्ता है वहीं सत् है आचार्य ने इसे निराकार माना है क्योंकि साकार तो कुछ है ही नहीं क्योंकि नाम रूप मिथ्या होते हैं।

[1]साकारमनृत विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।

एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भव सम्भवः।।

"साकार को मिथ्या जान, निराकार (परमसत्ता) को निश्चल जान। इस तत्त्वोपदेश को ग्रहण करने से संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।"

आचार्य की उपदेश की शैली से ज्ञात होता है कि ब्रह्म या परम-सत्ता के स्वरूप निर्धारण में तीन (3) प्रमुख बातें कही हैं

---

1. आष्टावक्रगीता – 1.18

1- सत्य 2- ज्ञान 3- अनंत। वह परम सत्ता सत्य स्वरूप है जैसा कि आचार्य ने प्रथम अध्याय के नवेश्लोक में कहा है - जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार आचार्य ने अनंत स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है -

[1]मय्यनंतमहाम्भोधौ विश्व पोत इतस्ततः।

भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्य सहिष्णुता।।

"मुझ अनंत महासागर में विश्वरूपी नौका अपने स्वभावरूप वायु से भ्रमण करती है (किन्तु) मेरी असहनशीलता नहीं है।"

अब प्रश्न उठता है कि आचार्य ने सत्य, ज्ञान और अनंत यही तीन लक्षण ब्रह्म का बोध कराने के लिए क्यों कहे, इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया जा सकता है कि 'सत्य' लक्षण तो यह सूचित करता है कि वह सदा एक रूप में विद्यमान है। जो पदार्थ जिस रूप में निश्चित किया गया है उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है।

ब्रह्म के निरूपण में आचार्य ने 'सत्य' को ही पर्याप्त नहीं माना है क्योंकि इससे ब्रह्म का कारणत्व प्राप्त होता है। विकार स्वयं असत् है। वे असत् से ही उत्पन्न नहीं हो सकते उनकी उत्पत्ति के लिये अधिष्ठान रूप में वस्तु का होना अपेक्षणीय है। इस तर्क से यदि ब्रह्म कारण है तो मृत्तिका के समान उसकी जड़ता का प्रसंग उपस्थित होता

---

1. अष्टावक्रगीता - 7.1

है। इस मिथ्या धारणा का प्रत्याख्यान करने के लिये आचार्य ने प्रथम अध्याय के नवे श्लोक में जहाँ पर वह, 'सत्य' (विशुद्ध) स्वरूप बताते हैं वहीं पर ज्ञान (बोधो) भी कहते हैं। जिसका आशय है कि वह परम सत्ता ज्ञान स्वरूप है। ब्रह्म का लक्षण बोध (ज्ञान) बताने के बाद यदि लौकिक ज्ञान के समान उसमें अंतत्व की आशंका की जाय तो उसका निवारण करने के लिये आचार्य ने सातवें प्रकरण के श्लोक में जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है, में "मय्यनंत" कहा। ब्रह्म सत् होने के कारण अव्यय, नित्य, शाश्वत, अमृतस्वरूप अखंड और अविनाशी है। ज्ञान स्वरूप होने के कारण चेतन, प्रकाशस्वरूप और बोध स्वरूप है तथा अनंत होने के कारण वह सर्वव्यापी, पूर्ण और आनंद स्वरूप है।

आचार्य ने इस सृष्टि का निर्माता ईश्वर को माना है। परमात्मा या परमसत्ता के दो रूप मान्य हैं एक- मायोपाधि रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप तथा दूसरा मायोपाधि सहित चैतन्यरूप ईश्वर है। यही मायोपाधि सहित ईश्वर जगत् का कारण है और आचार्य ने इसे ईश्वर कहा है।

[1]ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।

अंतर्गलित सर्वाश शान्तः क्वापि न सज्जते।।

---

1. अष्टावक्रगीता - 11.2

"ईश्वर सबका निर्माता है, अन्य कोई निर्माता नहीं है, ऐसा निश्चय करने वाला, जिसकी सब कामनायें अपने भीतर गलित हो गयी है, शान्त हो जाता है तथा कहीं भी आसक्त नहीं होता।"

यह ईश्वर शरीर और इन्द्रियों से रहित होते हुए भी सर्वज्ञ है सब वस्तुओं का कारण है। जिस प्रकार सूर्य का स्वरूप ही प्रकाश है। उसी प्रकार शाश्वत ज्ञान ईश्वर का स्वरूप है।

जगत्कर्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने पर आचार्य का आशय यह कदापि नहीं है कि ब्रह्म और ईश्वर दो अलग-अलग तत्व हैं ब्रह्म और ईश्वर एक ही ब्रह्म के दो पक्ष हैं। ब्रह्म ही परम सत्ता है, ईश्वर मूलतः ब्रह्म ही है।

[1]"ईश्वर, ब्रह्म एवं विश्व के मध्य का तत्व है क्योंकि वह दोनों के स्वरूप में भागीदार है। ईश्वर ब्रह्म से एकता रखते हुए भी विश्व से सम्बन्धित है।"

आचार्य यह मानते हैं कि ज्ञान होने पर यह जगत् ईश्वर में विलीन हो जाता है और तब एकमात्र ब्रह्म की सत्ता शेष रह जाती है। न जगत् रहता है न ईश्वर वरन सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है।

त्वया व्याप्तामिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।

---

1. डॉ. राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन भाग-2 पृष्ठ - 557

[1]शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्र चित्तताम।।

"यह विश्व तेरे से व्याप्त है, तुझमें प्रोत है, तू यथार्थ में शुद्धबुद्ध स्वरूप है क्षुद्र चित्तवृत्ति को प्राप्त मत हो।"

यदि परमतत्त्व सबका आत्मा है या आत्मा से ही यह विश्व व्याप्त है तो प्रश्न उठ सकता है कि वह सर्वदा उलब्ध क्यों नहीं होता, इसका समाधान यह है कि सत् व्यक्त और अत्यक्त दोनों रूपों में रह सकता है। जो उपलब्ध हो वही सत् नहीं है पृथक-पृथक कार्यों के रूप में सर्वदा व्यक्त न रहने पर भी वह विद्यमान रहता है।

जो ब्रह्म, सत् और परम है, तथा स्वप्रकाश ज्ञानमात्र स्वरूप है, वही अविज्ञात आत्मयाथात्म्य (स्वाश्रय और स्वविषयक अविद्या से मुक्त होकर) जगत् का कारण है। इससे स्पष्ट है कि आश्रय ब्रह्म है न कि ईश्वर या जीव, अपने ही अज्ञान से सत् ब्रह्म, जगत् का उत्पादक और नाशक कहलाता है। अज्ञान के बिना उसमें सर्व शक्तिमत्व बन ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में असंगत्व स्वाभाविक है और कारणत्व आदि अज्ञानोपाधिक है। अज्ञान और तज्जन्य शरीर, इन्द्रिय और अतंःकरण आदि में प्रविष्ट हुआ एवं ब्रह्म ही अनेक देव, मनुष्य, पशु पक्षी आदि शरीर का अभिमानी होकर अनेक कहलाता है। आचार्य इसी बात को इस प्रकार से कहते हैं –

---

1. अष्टावक्रगीता – 1.16

[1]सर्वभूतेषु चात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि।

विज्ञाय निरहङ्कारो निर्ममस्त्वं सुखी भव।।

"सब भूतों (प्राणियों, पदार्थों) में आत्मा को और सब भूतो को आत्मा में जानकर, अहंकार रहित और ममत्व रहित, तू सुखी हो जा"

अद्वितीय आत्मवस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से यह अज्ञान और उसका कार्य न स्वतः सिद्ध है, न परतः सिद्ध, किन्तु अज्ञान और उसके कार्य का कथन अज्ञान की ही दृष्टि से है। तमः प्रधान होकर परमसत्ता जड़ जगत् का कारण है और चित्प्रधान होकर वह चेतनों का कारण है। उन प्राणियों के किये हुए उन-उन भावना, ज्ञान और कर्मों से देव, तिर्यक, मनुष्य आदि विलक्षणता भी बन सकती है।

आत्मगत अध्यात्म, समष्टिगत अधिदेव, और भौतिक जगत् अधिभूत, कहलाता है। "परमसत्ता अविद्या की उपाधि से इन तीनों रूपों को प्राप्त हुआ है।" इसी बात का विस्तार करते हुए आचार्य मधुसूदन इस प्रकार से कहते हैं -

[2]"अध्यात्म विश्व, अधिभूत विराट, और अधिदैव विष्णु हैं। अध्यात्म जाग्रत, अधिदैव पालन और अधिभूत सत्व गुण है। अध्यात्म

---

1. अष्टावक्रगीता - 15.6
2. वृहदारण्यकवर्तिक सार - 1.4.292 पृ0 931

तैजस, अधिभूत हिरण्यगर्भ, अधिदैव ब्रह्म है। अध्यात्म स्वप्न, अधिदैव रूद्र तथा अध्यात्म सुषुप्ति, अधिदैव प्रलय और अधिभूत तमोगुण है। उस परमसत्ता का मायाकृत प्रपंचविस्तार इतना ही है। इस सब भेदों का साक्षी नित्य विद्यमान आत्मा है जिसका अभाव कदापि सम्भव नहीं है।"

परमसत्ता के साक्षी होने की बात के इसी भाव को अष्टावक्र ने इस प्रकार से कहा है -

[1]न त्वं देहो, न तेदेहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।

चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर।।

"न तू देह है, न देह तेरा है, और तू भोक्ता कर्ता न ही है। तू चिदरूप है, सदा साक्षी (और) निरपेक्ष (उदासीन) है सुख पूर्वक विचारण कर।"

परमसत्ता की सर्वव्यापकता को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने बताया है कि वह न तो अप्राप्य है, न सीमित अथवा परिच्छिन्न ही है। वह परम है तथा उसका कोई विकल्प नहीं है। उसे कोई प्रयत्न नहीं करना होता है, उसके लिये कुछ प्राप्तव्य नहीं है तथा वह निष्क्रिय है वह निर्विकार निर्गुण एवं निर्विशेष है। सर्व व्यापक एवं अनंत होने के कारण न दूर स्थित है और न समीप ही है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 15.4

[1]न दूरं न च सङ्कोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।

निर्विकल्पंनिरायासं, निर्विकारं निरन्जनम्।।

"विकल्प रहित, आयास रहित, विकार रहित, निर्मल आत्मा का स्वरूप न दूर है और न सीमित है। वह तो प्राप्त ही है।"

आत्मा को ही परमसत्ता बताते हुए आचार्य उसके स्वरूप को और अधिक इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं।

[2]आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावा भावौ च कल्पितौ।

निष्कामः किं विजानीत किं ब्रूते च करोति किम्।।

"आत्मा ब्रह्म है और भाव अभाव मात्र कल्पित हैं, ऐसा निश्चय करके निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या बोलता है और क्या करता है।?

परमसत्ता और आत्मा में कोई भेद नहीं है आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं। व्यक्ति के जीवन की संचालक सत्ता आत्मा तथा जगत् की संचालक सत्ता परमात्मा में अभेद है जैसे- बिन्दु और सिन्धु अथवा स्फुलिंग और अग्नि में अभेद होता है। वास्तव में मूल सत्ता आत्मा ही परमात्मा है परमसत्ता एक तथा अखंड है उसी के अनेक वर्णन किये जाते हैं आत्मा ही सत् है भाव और अभाव मात्र कल्पना है, वही परमसत्ता है।

---

1 अष्टावक्रगीता - 18.5

2. अष्टावक्रगीता - 18.8

(ii) परमसत्ता की शक्ति – (अज्ञान या अविद्या)

अष्टावक्र गीता के अनुसार परमसत्ता जो कि एक मात्र सत् है अपनी शक्ति अज्ञान या अविद्या के द्वारा इस नाम रूपात्मक जगत् के रूप में आभाषित होता हे। जिसके कारण द्वैत का भान होता है। वस्तुतः ऐसा है नहीं क्योंकि जिस कारण से यह नाम रूपात्मक जगत् पृथक प्रतीत होता है वह है परम सत्ता अथवा ब्रह्म की शक्ति। परमार्थ अद्वय आत्मतत्व अज्ञान के कारण ही द्वैत के रूप में भासित होता है, फलतः समस्त जीव जड़ात्मक जगत् केवल माया या कल्पना मात्र है यह माया भी परमार्थतः सत् नहीं है यह आत्मतत्त्व की ही एक शक्ति है जिसके द्वारा आत्मतत्त्व अपने आपको अनेक जीव–जड़ात्मक रूप में कल्पित करता है और उस भिन्नत्व का साक्षी बनता है। जीव–जड़ात्मक रूप की यह कल्पना भी अज्ञान के कारण ही होती है।

अद्वय आत्मतत्व (परमसत्ता) अपनी शक्ति माया या अविद्या के कारण ही अनंत चेतना, अचेतन रूपों में जगत् में दृष्टिगत हो रहा है, यह माया या अज्ञान शक्ति इतनी प्रभावशाली व मोहक है कि आत्मा इससे स्वयं मोहित सा होता प्रतीत होता है। यहॉ मोहित होने का अर्थ आत्मा को मोह हो जाना नहीं वरन उस आत्म तत्त्व की खुद के स्वरूप को भूलकर जीव रूप में कल्पित होना है।

जिस प्रकार अज्ञान स्वप्नावस्था में दुःख का कारण बनता है उसी प्रकार से जाग्रत अवस्था में भी जीव को दुःखी करता है। अज्ञान बन्ध्या पुत्र की भॉति अभावात्मक सत्ता नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति

होती है और हममे से प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्ता भी नहीं क्योंकि आत्म साक्षात्कार रूपी ज्ञान से इसका बाध हो जाता है।

अष्टावक्र गीता में मूलरूप से यह अविद्या परमसत्ता की एक नित्य शक्ति है जो परम सत्ता के अधीन होकर जगत् का कारण बनती है अविद्या जड़ होने के कारण स्वयं अकेली विश्व रचना नहीं कर सकती जगत् रचना के लिए क्रिया का होना आवश्यक है जो उसे ब्रह्म या परमसत्ता के साथ सम्पर्क होने से ही मिलती है। अविद्या न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न बन्ध्या पुत्र के समान अभावात्मक ही। अविद्या पर आश्रित बीज शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है यही व्यक्त होने पर जीव की बुद्धि कही जाती है।

[1]अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यास्वरूप प्रतिबोध रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।

माया या अविद्या सद्सत् विलक्षण होने के कारण अनिवर्यनीय है और 'दृष्ट नष्ट स्वरूप' होने के कारण मिथ्या है मिथ्या उसे कहते हैं जो कभी रहे और कभी न रहे यहाँ रहने का अभिप्राय प्रतीत होने से है।

---

1. शांकरभाष्यब्रह्मसूत्र - 1/4/3

अज्ञान या अविद्या के कारण ही भ्रम और संशय उत्पन्न होते हैं। भौतिक विषयों में मोहमयी प्रीति होती है वह आत्मस्वरूप को न जानने से होती है तथा अज्ञान के दूर हो जाने पर समस्त विषय रसशून्य अर्थात आनंद न देने वाले सिद्ध हो जाते हैं।

[1]आत्मज्ञानादहो प्रीतिर्विषय भ्रमगोचरे।

शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजत विभ्रमें।।

"आश्चर्य है कि आत्मा को न जानने के कारण विषयों के भ्रमात्मक जगत् में प्रीति होती है जैसे शुक्ता के न जानने से चांदी की भ्रान्ति में लोभ हो जाता है।"

आचार्य ने आभासवाद के माध्यम से आत्म तत्व का विश्लेषण किया है तथा साथ ही साथ वे अपनी बात को समझाने के लिये अन्य सिद्धांतों से भी आत्मतत्त्व की पुष्टि करते हैं।

यह सम्पूर्ण विश्व परमसत्ता (ब्रह्म) की शक्ति अर्थात अविद्या के कारण ही आभाषित हो रहा है, वस्तुतः द्वैत की प्रतीति अविद्या के कारण ही है इसी बात का स्पष्टीकरण आचार्य ने अष्टावक्र गीता में इस प्रकार से किया है। -

[2]माया मात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगत कौतुकः।

अवि सान्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्पति धीरधी।।

---

1. अष्टावक्रगीता - 3.2
2. अष्टावक्रगीता - 3.11

" जिसका कौतुक समाप्त हो गया है वह धीरबुद्धि वाला पुरूष इस विश्व को माया मात्र देखता हुआ, मृत्यु के समीप आने पर क्यो भयभीत होता है।"

प्रकृति को माया या अविद्या भी कहा जाता है।

[1]मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम।

माया–परमात्मा की अन्तर्निगूढ़ प्रच्छन्न एवं अनिर्वचनीय शक्ति है तथा आत्मादेहादि तथा प्रकृति का प्रकाशक होता है।

[2]तेध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं

स्वगुणैर्निगूढ़ाम।

अज्ञान के कारण ही यह नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तथा अज्ञान की निवृत्ति होने पर जगत् आत्मरूप (ब्रह्म) में सिद्ध हो जाता है। ज्ञान आत्मा के स्वरूप का बोधक होता है।

"स्वात्मबोधकत्वं ज्ञानम्।"

जिस प्रकार सर्प रज्जु में मात्र आरोपित है, उसी प्रकार संसार अज्ञान के द्वारा ब्रह्म पर मात्र आरोपित अर्थात मिथ्या है ब्रह्म परिवर्तन रहित, स्थिर और सत्य है ब्रह्म की शक्ति अर्थात

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद – 4/10
2. श्वेताश्वरोपनिषद – 1/3

अविद्या या अज्ञान से ही संसार आभाषित होता है और उसके निवारण हो जाने पर ब्रह्म की सत्ता शेष रहती है। ब्रह्मभूत ज्ञानी में अज्ञान लेश मात्र भी शेष नहीं रहता इस लिए स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। संसार में दिखाई पड़ने वाला नानात्व ब्रह्म की शक्ति अविद्या अथवा अज्ञान के कारण ही है, और जब उस अज्ञान का पटापेक्ष होता है तो सब कुछ ब्रह्म ही दीखता है। आत्मज्ञानी ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य की अनुभूति नहीं करता क्योंकि उसका अज्ञान दूर हो चुका होता है वह अज्ञान से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, सुख-दुखादि से परे हो चुका होता है। परम सत्ता का यह संकल्प कि 'एको अहं बहुस्यामः' से अहं ब्रह्मास्मि के रूप में सिद्ध हो जाता है उसकी शक्ति अज्ञान या अविद्या ब्रह्म में तिरोहित हो जाती है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी दूसरे की सत्ता नहीं रहती।

इस प्रकार अज्ञान और अविद्या या माया ब्रह्म की वह शक्ति है जिससे यह नाम रूपात्मक जगत् तथा जीव ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने लगते हैं तथा ज्ञान के द्वारा जब अज्ञान का निवारण हो जाता हे तो विश्व एक मात्र ब्रह्म के अलावा कुछ भी नही रह जाता तथा 'सर्वखलुइदंब्रह्म' की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

(iii) **परमसत्ता का जीव से सम्बन्ध -**

ब्रह्म अर्थात परमसत्ता पारमार्थिक सत्य है जबकि जीव औपाधिक है। ब्रह्म और जीव शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अंतर उपलब्ध होता है। उपाधिशून्य चैतन्य का नाम है 'ब्रह्म'। जगत् का कर्तृव्य और भोक्तृत्व का अभिमानी जीव

है। माया विशिष्ट ब्रह्म की संज्ञा 'ईश्वर' है। साक्षी शाश्वत चैतन्य को कहा जाता है। वह न कर्ता है न भोक्ता और न स्रष्टा यह साक्षी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को देखता भर रहता है। अष्टावक्रगीता में जगत् को एक नौका के समान जीवन को व्यापारी तथा चित्त को वायु तथा ब्रह्म को अनंत महासागर के समान बताया गया है।

[1]मय्यनन्त महाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।

अभाग्याज्जीवणिजो जगत्पोतो विनश्वरः।।

जीवात्मा एक व्यापरी की भाँति है, उसके समस्त कर्म व्यापार हैं तथा उसे भले बुरे कर्मो के फलस्वरूप लाभ और हानि होते हैं यह संसार एक पोत के समान है जहाँ वह व्यापार करता हैं यह जगत् और जीव दोनों ही मिथ्या है जगत् और जीव दोनो ही चित्त से आरोपित होते हैं। ज्ञान द्वारा चित्त का विक्षेप और लोप होने पर जगत् और जीव भी विलुप्त हो जाते हैं।

यह जीव रूपी व्यापारी संसार के भोगों का अभिलाषी है। अर्थात इसकी जीवन नौका इस चित्त रूपी वायु के सहारे ही चलती है अर्थात जीव का अस्तित्व तभी तक है, जब तक यह चित्त विद्यमान है। यदि यह चित्त रूपी वायु अधिक तेज हो जाती है विषय वासनायें, अहंकार लोभ आदि बहुत बढ़ जाते हैं तो संसार में अत्याचार, दुराचार, वैमनस्य घृणा आदि भी बढ़ जाते हैं तो इस जीव रूपी व्यापारी की संसार नौका

---

1. अष्टावक्रगीता – 2.24

डूबने लगती है और यदि चित्त रूपी वायु शान्त हो जाती है तो इस वायु के सहारे चलने वाली संसार नौका चल नहीं सकती वह वहीं विनाश को प्राप्त हो जाती है। इसलिए चित्त रूपी वायु ही इस संसार का आधार है जीव रूपी व्यापारी के लिये यह सौभाग्य है कि वायु न अधिक तीव्र चले न यह हवा बिल्कुल ही शान्त हो जाय।

जीवात्मायें तरंगों की भाँति चेतना सिन्धु से उत्पन्न होकर चेतना सिन्धु में विलीन हो जाती है इसको इस प्रकार से अष्टावक्र गीता में कहा गया है –

[1]मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्य जीव वीचयः।

उद्यन्तिघ्नन्ति खेलन्ति, प्रविशन्ति स्वभावताः।।

आत्मज्ञान होने पर जीवात्मायें मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं और सर्वत्र एक परब्रह्म का अस्तित्व ही रह जाता है चैतन्यस्वरूप परब्रह्म की माया शक्ति उसे आवृत कर लेती है, जैसे मकड़ी के भीतर से उत्पन्न तंतु जाल उसे ढ़क लेते हैं।

जीव की चेतना पर मन के कारण अनेक दृश्य दीखते हैं किन्तु मन के पृष्ठ की विशुद्ध चेतना उससे अछूती और अप्रभावित रहती है। मन के निर्मल होने अथवा मन का विलोप होने अथवा मन के अध्यास मुक्त होने पर विशुद्ध चेतना अर्थात परमसत्ता ही शेष रह जाती है। जीव का जीवत्व असत् है, विशुद्ध चेतना का अस्तित्व ही एक

---

1. अष्टावक्रगीता – 2.25

मात्र सत् है। अज्ञान के कारण सत् प्रतीत होने वाला जीव ज्ञान का उदय होने पर ऐसे ही विलुप्त हो जाता है - जैसे तरंङ्गे शांत महासागर में उत्पन्न होकर परस्पर, टकराकर, खेलकर अंत में स्वाभावतः उसी में लीन हो जाती है। तरंगों के विलुप्त होने पर एक मात्र शान्त महासिन्धु ही शेष रह जाता है आत्मज्ञानी के भीतर ज्ञान द्वारा जीवात्माओं के विलुप्त हो जाने पर एक मात्र शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व ही शेष रह जाता है जिस प्रकार स्वप्न के समाप्त हो जाने पर स्वप्न के दृश्य मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान का जागरण होने पर जीव और ब्रह्म के द्वैत का लोप हो जाता है और एक मात्र अद्वय ब्रह्म की सत्ता रह जाती है।

जीव परब्रह्म का परिवर्तित रूप नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि निरपेक्ष परब्रह्म निर्विकार है। जीवात्मा ईश्वर की रचना भी नहीं कही जा सकती है क्योंकि वेद या उपनिषद ग्रंथों में कहीं भी आत्मा की रचना का कोई वर्णन नहीं मिलता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव न तो परब्रह्म से भिन्न है न उसका अंश है और न ही उसका परिवर्तित रूप। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्मरूप ही है आत्मा की अजरता, अमरता एवं कूटस्थता का वर्णन शांकर वेदान्त में भी वर्णित है यह जीव स्वयं आत्मा ही है हम इसके स्वरूप को पहचानते नहीं क्योंकि यह उपाधियों से आवृत्त है।

यहां यह शंका स्वाभाविक है कि जो आत्मा नित्य स्वतंत्र,विशुद्ध, चैतन्य तथा कूटस्थ नित्य है और उसे किसी की चाह नहीं है वह करती भी कुछ नहीं है तो भी शरीरधारी आत्मा या जीव के रूप में गति, सक्रियता इच्छा आदि का कारण कैसे बनती है? इस शंका का समाधान आचार्य शंकर अपने भाष्य में इस प्रकार से देते हैं।

[1]यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिर हितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादिको विषयः स्वयं प्रवृत्ति रहिता अपिचक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति एवं प्रवृत्ति रहितोऽपीश्वरः सर्वगत् सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्व प्रवर्तयेत।

"जिस प्रकार लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्तिरहित होने पर भी लौक का प्रवर्तक होता है, अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्र के प्रवर्तक होते हैं ठीक उसी प्रकार से प्रवृत्त रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वगत सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होकर सब 'जीवों' को प्रवृत्त करता है। जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या से उपस्थापित शरीर, इन्द्रिय, रूप उपाधि की अपेक्षा से ही है परमार्थतः नहीं, क्योंकि वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है दो प्रत्यगात्माओ का होना सम्भव नहीं है दो में भेद व्यवहार होता है इसलिए यहीं निश्चित होता है कि परमात्मा से भिन्न कोई संसारी जीवात्मा नहीं है वरन यही परमसत्ता ही देहादि संघात रूप उपाधि के साथ सम्पर्क होने पर जीवरूप से

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - 2/2/2

संसार में प्रसिद्ध है आत्मा और उपाधियों का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार महा आकाश और गिरि, गुफा, घट आदि उपाधियों के साथ होता है।

उपाधियों के साथ सम्बन्ध के अविवेक से उत्पन्न हुई मिथ्याबुद्धि से ही ब्रह्म में विशेष है –

1. जीव कर्ता, भोक्ता, धर्म और अधर्म साधन वाला तथा सुख दुःखादि वाला है।

2. ब्रह्म जीव से विपरीत पाप रहित तत्त्वादि गुणों से युक्त है यही कारण है कि जीव को सुख दुःखादि योग प्राप्त होते हैं ब्रह्म को नहीं, जीव और ब्रह्म में एकत्व होने पर भी जीव के उपभोग से ब्रह्म में उपभोग की प्रसक्ति दोनो यें विशेषता– विशेष्य होने के कारण नहीं हो सकती।

[1]विशेषोहि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ताधर्माधमादि साधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽप्रहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगोनेतस्य।

सर्गारम्भ से पूर्व ब्रह्म विचार करता है कि "मैं एक से बहुत हो जाऊँ।"

एकोऽहं बहुस्यामः।

---

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य – 1/2/8

और तब वही अनंतरूप हो जाता है, विश्वरूप हो जाता है इस प्रकार विश्व उसी से व्याप्त है आत्मा या ब्रह्म ही विश्व की व्यापित का कारण है इसलिए विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है, विश्व यथार्थ में विश्व नहीं ब्रह्म ही है इसमें जो भिन्नता की प्रतीति होती है वह तभी तक होती हे, जब तक आत्मज्ञान नहीं होता आत्मज्ञान होने पर विश्व में सर्वत्र आत्म दर्शन ही होता है।

अष्टावक्रगीता में आत्मा को ही ब्रह्म कहा गया है –

[1]"नाहं देहो, न में देहो जीवो नाहमहं हि चित्।

अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा।।

न मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है, मैं जीव नहीं वरन चैतन्य स्वरूप हूँ। मेरा यही बंधन था जो जीवित रहने की इच्छा के कारण था।"

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म में किसी भी प्रकार का द्वैत भाव नहीं वरन जीव ही ब्रह्म है। जीव अज्ञानोपहित होने के कारण दुःखादि का अनुभव करता है और जब ज्ञान द्वारा उस अज्ञान का निवारण हो जाता है तो वह अपने परम शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है।

यह जगत् और जीव दोनो ही मिथ्या हैं जगत् और जीव चित्त से ही आरोपित होते हैं, ज्ञान द्वारा चित्त का विच्छेद एवं लोप होने पर

---

1. अष्टावक्रगीता – 2.22

जगत् और जीव भी विलुप्त हो जाते हैं। जब चित्त संकल्प और विकल्प से शून्य हो जाता है तब संसार विलुप्त हो जाता है चित्त की वृत्तियों के सम और शान्त होने पर जीव अपने मूल चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है।

अविद्या प्रयुक्त स्वरूप अज्ञान के कारण जीव नानाविध क्लेशपाशों से बद्ध होकर त्रिविध तापों का भाजन सा बना रहता है। जीव का परमार्थिक या यथार्थ स्वरूप परब्रह्म है और वह पापरहित तत्वादि धर्म वाला है, इससे भिन्न उपाधि कल्पित स्वरूप पारमार्थिक नहीं है। जब तक स्थाणु में पुरूष बुद्धि के समान द्वैत लक्षण रूपा अविद्या की निवृत्ति नहीं हो जाती तथा कूटस्थ नित्य और ज्ञान स्वरूप आत्मा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार नहीं जान लेता तब तक जीव में जीवत्व विद्यमान रहता है। परन्तु जब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघात से पृथक तू देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि रूप संघात नहीं है, तू संसारी भी नहीं है किन्तु जो सत्य है वही चैतन्य स्वरूप आत्मा है। इस प्रकार कूटस्थ नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञान अविद्या ग्रस्त जीव को हो जाता है जिसके फलस्वरूप जीव का शरीर के प्रति अभिमान छूट जाता है अर्थात वह शरीरी होते हुए भी अशरीरी हो जाता है।

'परमार्थ रूप से विज्ञानात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है।'

ब्रह्म से जीव की भिन्नता केवल औपाधिक आधार पर है उसे आत्मज्ञान हो जाने पर वह सभी सांसारिक बंधनों एवं औपाधिक भेदों से छूट जाता है।

(iv) परमसत्ता का जगत् से सम्बन्ध –

जगत् के आधार रूप में जहाँ इसका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है वहाँ इसकी पृथक प्रतीति के मूल में हमारा अज्ञान है। अष्टावक्रगीता के अनुसार इसी अज्ञान के कारण जगत् पृथक प्रतीत होता है। इसी जगत् विषयक अज्ञान को शंकर 'माया' नाम देते हैं। समूचे भारतीय दार्शनिकों के लिये माया का तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् एक भ्रान्ति है या इसकी सत्ता ही नहीं है इसलिए इसपर गम्भीरता पूर्वक विचार ही नहीं किया जाना चाहिए। वह वास्तविकता जो सारे विश्व में व्याप्त है हमारे हृदय के भीतर अनंत गहराइयों में हमारे स्वत्व (आत्मा) के रूप में प्रतिष्ठित है तथा उसकी सत्यता के समक्ष उसकी शक्ति जो समस्त जगत् को भिन्न रूप की प्रतीति कराती है पृथक रूप से बुद्धि गम्य न होने के कारण सत्ताहीन सिद्ध होती है हम लोगों का सीमित मष्तिष्क ब्रह्मज्ञान के अभाव में निरपेक्ष सत्ता तथा व्यावहारिक जगत् के सम्बन्धों को वर्तमान बुद्धि के स्तर पर नहीं समझ सकता कारण यह कि जगत् तथा ब्रह्म का परस्पर अभेद का सम्बन्ध जब भी काल की पूर्व धारणा ब्रह्म (परमसत्ता) को अनुभव की इन्हीं श्रेणियों में लाना चाहती है। ब्रह्म अपने कार्य के माध्यम से सदैव तथा सर्वत्र वर्तमान है जो कुछ सोचा जाता है या सोचा जा सकता है उसमें तो वह है ही,

इससे परे भी वह है। अष्टावक्र गीता में अज्ञान अथवा माया की सद-सद् भिन्नता इसे निरपेक्ष सत्ता के अंतराल तक पहुंचा देती है। इस प्रकार अज्ञान ब्रह्म की जगत् के रूप में अभिव्यक्ति की व्याख्या अपनी विभिन्न कार्यकारी योग्यताओं के कारण करता है।

जिस प्रकार से समुद्र के फेन और बुदबुद उसके जल से भिन्न नहीं है वे उसी में उठ्ते और विलीन हो जाते हैं। जैसे सर्प और रज्जु भिन्न नहीं है सर्प रज्जु में ही अधिष्ठित है वैसे ही यह जगत् परमात्मा में अधिष्ठित है। परमात्मा सत् है और जगत् असत् हैं जिस प्रकार से इक्षु के रस से उत्पन्न शर्करा उस रस से व्याप्त है परमात्म से उत्पन्न विश्व निरंतर परमात्मा में व्याप्त है। शर्करा और रस में अभेद है शर्करा ही रस है। विश्व और परमात्मा में अभेद है, विश्व परमात्मा ही है रस के बिना शर्करा का अस्तिव नहीं है परमात्मा के बिना जगत् का अस्तित्व नहीं है। तात्विक दृष्टि से अभिन्न हैं। जिस प्रकार शर्करा से बने हुए खिलौने शर्करा ही होते हैं उसी प्रकार विश्व के पदार्थ नाम और रूप का भेद होते हुए भी परमात्मा ही है। विश्व परमात्मा स्वरूप है। आत्मा के अज्ञान से जगत् की प्रतीति होती है और आत्मा के ज्ञान सम्पन्न होने पर जगत् की प्रतीति नहीं होती रज्जु के अज्ञान से सर्प की प्रतीति होती है निश्चय ही उसका ज्ञान हो जाने पर सर्प की प्रतीति नहीं होती। जगत् का अपना अस्तित्व नहीं है तथा यह मात्र भ्रान्ति ही है, जिसका कारण अज्ञान है, सत् तत्त्व

परमात्मा ही है। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर जगत् का असत् होना सिद्ध हो जाता है।

यह जगत् ब्रह्म स्वरूप है तथा ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

[1]प्रकाशों में निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।

यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहं भास एव हि।।

"प्रकाश मेरा निजी स्वरूप है, मैं उससे भिन्न नहीं हूँ जब संसार प्रकाशित होता है तो वह मेरे ही से प्रकाशित होता है।"

इस जगत् की जो परमसत्ता है वह चैतन्य स्वरूप है चैतन्य प्रकाश रूप होता है। अपने भीतर संस्थित चैतन्य स्वरूप आत्मा को अपना स्वरूप मान लेने वाला आत्मज्ञानी सारे जगत् को आत्मा के रूप में देखता है सारा जगत् आत्मा ही है। (यहाँ पर सम्पूर्ण जगत् का कल्याण भी निहित है)

अंतरात्मा के विशुद्ध होने पर सारा जगत् परमात्मा ही भासता है किन्तु अंतरात्मा के वासनाओं से आवृत एवं दूषित होने पर जगत् भी दूषित ही प्रतीत होता है। अंतरात्मा सब कुछ देखने और जानने का यंत्र है जिसका शुद्ध होना आवश्यक होता है। मनुष्य जगत् को अपनी दृष्टि के अनुरूप ही देखता है।

वास्तव में चेतना के अनेक स्तर होते हैं और मनुष्य जगत् को अपनी चेतना के अनुसार ही देखता है। यह जगत् ब्रह्म से अभिन्न

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.8

तथा ब्रह्म रूप ही है आत्मज्ञानी जगत् ब्रह्म रूप में ही देखता है। तथा जगत् प्रपंच में नहीं फंसता वह अनासक्त और निष्काम तथा अहंकार शून्य रहकर सहजभाव में कल्याणकारी कर्म करता है। तथा सदा मुक्त एवं आनंदमय ही रहता है।

[1]अहोविकल्पितं विश्वमज्ञानान्मायि भासते।

रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्य करे यथा।

''आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मुझे ऐसा भासता है जैसे – सीपी में चाँदी, रस्सी में साँप और सूर्य की किरणों में जल भासकता है।''

यह जगत् अज्ञान से भास रहा है ज्ञान का अनुभव होने पर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है जगत् मात्र अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होता है जैसे सुक्ति में रंजत, अज्ञान से भ्रम उत्पन्न होता है तथा ज्ञान होने पर भ्रम का निवारण और सत्य का अनुभव हो जाता है।

इस जगत् में पदार्थो में सुख होने के भ्रम के कारण मनुष्य उनकी प्राप्ति और संयम के लिए भटकता रहता है तथा अपने ही भीतर स्थित शान्ति के अनुभव से वंचित रहता है, कस्तूरीमृग को भ्रम होता है कि सुगंध कहीं दूर से आ रही है यद्यपि वह उसे भीतर स्थित कस्तूरी की ही सुगंध होती है।

---

1. **अष्टावक्रगीता** – 2.9

[1]मत्तोविनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।

मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा।।

"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें ही लय को प्राप्त होगा जैसे- मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, और सोने में आभूषण लय होते हैं।"

परमतत्त्व के साथ अपना एकत्व अनुभूत होने पर मनुष्य को अनुभव होता है कि विश्व उससे ही उत्पन्न हुआ है तथा उसमें ही लय को प्राप्त होगा जैसे मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होकर मिट्टी में विलीन होते हैं तथा तरंग जल से उत्पन्न होकर जल में ही विलीन होती है और कटक और कंकण आदि आभूषण स्वर्ण से निर्मित होकर स्वर्ण में ही लय को प्राप्त होते हैं। परमात्मा ही जगत् के उद्गम एवं लय का स्थान है। परमात्मा और जगत् अभिन्न है। वास्तव में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व ही है और जगत् का अस्तित्व मात्र एक भ्रम है जो अज्ञान से उत्पन्न होता है।

[2]यतो वा इमानिभूतानि ज्ञायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यमिसिंविसंति।

[1]तज्जलानिति

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.10
2. तैत्तिरीयोपनिषद - 3.1

यह जगत् ब्रह्म से निर्गत होकर ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है परमात्मा इस जगत् का निमित्त एवं उदादान दोनों कारण है वह ब्रह्म जगत् में ओत-प्रोत है। ब्रह्म से लेकर मात्रतृण तक जगत् का नाश होने पर कूटस्थ ब्रह्म यथावत, अथवा एक रस स्थित रहता है। ब्रह्म नित्य है जगत् अनित्य है।

तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता यथार्थ है तथा जगत् की सत्ता अयथार्थ है। आत्मा के स्तर पर जगत् की सत्ता नहीं है। जगत् रज्जु में सर्प की भाँति सत्य प्रतीत होता है किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है ब्रह्म सत्य है।

विश्व परमसत्ता पर आरोपित होकर सत्य प्रतीत होता है। चेतना ही जगत् का अधिष्ठान एवं आश्रय है। यह सत्य और असत्य सम्बन्ध रहित है। रज्जु सर्प का अधिष्ठान एवं आश्रय है किन्तु रज्जु का सर्प से सम्बन्ध नहीं है। परम ज्ञानी मनुष्य ज्ञान प्राप्ति के एवं ज्ञानी होने के अहंकार को पार कर लेता है तथा माया और माया के कार्य मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। आत्मज्ञानी के लिये जगत् और जगत् का ज्ञान मिथ्या प्रतीत होते हैं। जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न की घटनायें मिथ्या प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर मनुष्य को जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है। मनुष्य की व्यष्टि चेतना में विश्व की प्रतीति होती है, किन्तु विशुद्ध चेतना में स्थित होने पर जगत् की प्रतीति नहीं होती। जागरण होने पर स्वप्न के दृश्य मिथ्या

---

1. छान्दोग्योपनिषद – 3.14.1

सिद्ध हो जाते हैं व्यष्टि चेतना के अल्प प्रकाश में मन, बुद्धि आदि सक्रिय होते हैं किन्तु परम चेतना अथवा विशुद्ध चेतना का उदय होने पर मनुष्य उनका मात्र दृष्टा हो जाता है तथा मन, बुद्धि आदि के द्वारा ग्रहीत जगत् के दृश्य चित्रपट अथवा स्वप्न के दृश्यों की भांति असत् प्रतीत होने लगते हैं।

[1]सशरीर मिदं विश्वं न किन्चिदिति निश्चितम्।

शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽधुना।।

"निश्चय ही शरीर युक्त यह विश्व कुछ भी नहीं है। यह शुद्ध चैतन्य, मात्र आत्मा है तो इसकी कल्पना ही किसमें है।"

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर विश्व की कल्पना का आधार नहीं रहता अज्ञान ही इस कल्पित जगत् का आधार है। शरीर सहित यह जगत् कुछ भी नहीं है तथा मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा ही सत् है ऐसा निश्चय होने पर जगत् की कल्पना करने का आधार ही नहीं रहता है। अज्ञान ही मिथ्या एवं असत् देह और जगत् की कल्पना का आधार है। जगत् एक भ्रम अथवा कल्पना मात्र है तथा अज्ञान के कारण ही सत् प्रतीत होता है ज्ञान द्वारा अज्ञान का निवारण होने पर भ्रम एंव कल्पना का नाश हो जाता है। प्रकाश द्वारा अंधकार की निवृत्ति होने पर रज्जु का दर्शन हो जाता है तथा सर्प के भ्रम एवं कल्पना का

1. अष्टावक्रगीता - 2.19

नाश हो जाता है। परब्रह्म परमात्मा चैतन्य स्वरूप है तथा सत् है। यह देह और जगत् असत् है अपने भीतर सत्ता का बोध हो जाता है तथा असत जगत् का लोप हो जाता है।

आत्मज्ञानी में ज्ञान का उदय होने से जगत् की कल्पना का लोप हो जाता है, परमार्थ दृष्टि से परमात्मा सत् तथा यह दृश्यमान जगत् असत एवं मिथ्या है। विश्व को असत् एवं मिथ्या मान लेने पर ज्ञानी के लिए जन समूह अरणय की भाँति हो जाता है ज्ञानी को जन समूह से प्रीति नहीं है तथा उसके राग की निवृत्ति हो जाती है-

[1]अहो भुवन कल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्।

मय्यनन्त महाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते।।

"आश्चर्य कि अनंत समुद्र रूप मुझमें चित्त रूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगत् रूपी तरंगे पैदा होती हैं।"

जिस प्रकार वायु के वेग से समुद्र में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और तरंगे उठने लगती हैं उसी प्रकार चित्त के क्षुब्ध और सक्रिय होने पर उसमें जगत् का उदय हो जाता है। परब्रह्म परमात्मा चैतन्य सिन्धु है जो शान्त एवं साम्यावस्था में रहता है। जगत् चित्त की कल्पना मात्र है। आत्मा पर नाम रूपात्मक जगत् के आरोपित होने पर चित्त में जगत् भासने लगता है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.23

ज्ञान द्वारा नामरूपात्मक विश्व के मिथ्या सिद्ध होने पर आत्मा का अस्तित्व ही शेष रह जाता है।

जिस प्रकार समुद्र में उत्पन्न तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं हैं तथा वे समुद्र में ही उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार चित्त में उत्पन्न होने वाला कल्पित जगत् चित्त में ही लीन हो जाता है। चित्त कल्पित जगत् का अधिष्ठान है। तथा जगत् चित्त से भिन्न नहीं है। सर्वत्र एक परब्रह्म परमात्मा की ही सत्ता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई यथार्थ नहीं है।

[1]विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे।

सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीनइव धावसि।।

"जहाँ यह विश्व आत्मा में समुद्र में तरंग के समान स्फुरित होता है वहीं मैं हूँ ऐसा जानकर क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है"

आत्मा में यह जगत् इस प्रकार स्फुरित होता है जैसे समुद्र में तरंगे स्फुरित होती है तरंगें समुद्र में स्फुरित होकर उसी में विलीन हो जाती हैं तथा उनकी अपनी पृथक सत्ता नहीं है। इस जगत् की भी अपनी पृथक सत्ता नहीं है तथा यह आत्मा में स्फुरित होकर उसी में विलीन हो जाता है जिस प्रकार तरंगों का अधिष्ठान समुद्र है उसी प्रकार इस जगत् का अधिष्ठान आत्मा है। अधिष्ठान में परिवर्तन नहीं

---

1. अष्टावक्रगीता - 3.3

होता जिस मनुष्य में ज्ञान का उदय हो जाता है वह जान लेता है कि वह आत्मा है जिसमें यह जगत् अधिष्ठित है। तथा वह दीन की भांति यत्र तत्र दौड़ता नहीं वह निर्भय सम और शान्त हो जाता है।

[1]माया मात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगत् कौतुकः।

अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः।।

"जो इस विश्व को माया मात्र देखता है और जो आश्चर्य को पार कर गया है वह धीर पुरूष मृत्यु के आने पर भी क्यों भयभीत होता है।" ?

जीवन और मरण का सम्बन्ध शरीर से होता है आत्मा तो अविनाशी है और नित्य है। ज्ञानी समझ लेता है कि यह जगत् स्वप्नवत् और असत् है वह मृत्यु आने पर भयभीत नहीं होता। चैतन्य स्वरूप आत्मा का विनाश कदापि नहीं होता स्वयं को चैतन्य स्वरूप आत्मा मानने वाला तथा जगत् को माया का खेल समझने वाला आत्मज्ञानी मृत्यु आने पर सम और शान्त रहता है।

यह दृश्यमान जगत् असत् है और भ्रम मात्र है ज्ञानी के लिये यह दृश्य मान जगत् ऐसा ही असत् है जैसे सुक्ति में रजत की प्रतीति।

[2]आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।

---

1. अष्टावक्रगीता - 3.11
2. अष्टावक्रगीता - 4.4

इन्द्रियों के स्तर पर सत् एंव प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। किन्तु विशुद्ध चेतना के स्तर पर यह असत् और मिथ्या है यह रज्जु सर्प, सुक्तिरजत की भांति एक भ्रम मात्र है।

यह चराचर जगत् स्वप्न की भांति मिथ्या है तथा ज्ञान का उदय होने पर असत सिद्ध हो जाता है।

[1]मय्यनंतमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।

भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता।।

"मुझ अंतहीन सत्ता समुद्र में विश्वरूपी नाव अपनी ही प्रकृति वायु से इधर-उधर डोलती है मुझे असहिष्णुता नहीं है।"

यह दृश्यमान जगत् नाव है तथा वह परम सत्ता अनंत महासमुद्र जिसमें कि यह विश्वनाव रूपी जगत् अपने ही स्वभाव से इधर उधर विचरण कर रही है। उसके इस विचरण का उस शुद्ध बुद्ध आत्मा में कोई असर नहीं पड़ता।

सिनेमा के चित्रपट पर अनेक प्रकार के सुख दुःख से पूर्ण दृश्य उपस्थित होते हैं किन्तु वे चित्रपट का स्पर्श नहीं करते तथा जब किसी कारणवश विद्युत के चले जाने पर चित्रों का प्रदर्शन समाप्त हो जाता है तब मात्र एक स्वच्छ श्वेत चित्रपट का ही अस्तित्व शेष रह जाता है, उसी तरह जगत् और उस परमसत्ता का सम्बन्ध है परम सत्ता जब अपना प्रकाश देता है तो जगत् प्रकाशवान, आभाषित होने लगता है

---

1. अष्टावक्रगीता - 7.1

जैसे कि बिजली के चलते उपकरण चलचित्र आदि और प्रकाश या ऊर्जा के जाते ही सब बेकार वे अर्थ लगने लगते हैं।

(v) निष्कर्ष –

आचार्य अष्टावक्र ने परमसत्ता को नित्य, शुद्ध, निराकार माना है परमसत्ता एक है जो कि आत्मा ही है। अनेक आत्मा की प्रतीति का कारण अज्ञान है। आत्मा यर्थाथतः भोक्ता और कर्ता नहीं है, वह उपाधियों के कारण ही भोक्ता और कर्ता दिखाई पड़ता है। शुद्ध चैतन्य होने के कारण आत्मा का स्वरुप ज्ञानात्मक है, आत्मा पाप और पुण्य के फलों से स्वतंत्र है। यह सुख दुःख की अनुभूति नहीं प्राप्त करता है आचार्य ने आत्मा को निष्क्रिय कहा है। यदि उसे सक्रिय माना जाय तब वह अपनी क्रियाओं के फलस्वरूप परिवर्तनशील होगा इस प्रकार आत्मा की नित्यता खंडित हो जायेगी। परमसत्ता या आत्मा विशुद्ध ज्ञान का नाम है। आत्मा ज्ञाता, ज्ञान और श्रेय की व्यावहारिक त्रिपुटी से परे है। आत्मादेश, काल और कारण– नियम की सीमा से परे है। वह सभी विषयों का आधार स्वरूप है, तथा सभी प्रकार के विरोधों से शून्य है साथ ही त्रिकाल–अबाधित सत्ता है वह सभी प्रकार के भेदों से रहित है।

तृतीय् अध्याय

अज्ञान की अवधारणा

अज्ञान की धारणा भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। भारतीय दर्शनों में इसका विशेष महत्व रहा है। कहीं यह विश्व के कारण के रूप में सामने आता है तो कहीं स्पष्टीकरण के रूप में इसे ब्रह्म की शक्ति माना जाय या उपाधि किन्तु प्रत्येक दशा में ब्रह्म और विश्व के मध्य इसकी स्थिति स्वीकार करना अनिवार्य है।

(i) अज्ञान का स्वरूप –

संस्कृत का अध्यास शब्द जो कि अज्ञान का ही पर्याय है अधि+आस (अस्)+घञ् प्रत्यय के संयोग से बना है, इस व्युत्पत्ति से इसका अर्थ है कि एक वस्तु पर उससे पृथक किसी दूसरी वस्तु का आ बैठना तथा एक वस्तु के स्थान में किसी अन्य वस्तु का मिथ्या ग्रहण होना, रज्जु सर्प इसी प्रकार का दृष्टान्त है जिसे आचार्य इस प्रकार से कहते हैं–

> [1]रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि।
>
> "रज्जु के अज्ञान से सर्प भासता है, निश्चय ही उसके ज्ञान से नहीं भासता।"
>
> मन्द प्रकाश में रज्जुसर्प की प्रतीति हो सकती है यथार्थ रज्जु पर काल्पनिक सर्प का आ बैठना अध्यास है। उसके

---

1. अष्टावक्रगीता – 2.7

फलस्वरूप भय संवेग और भागने कि क्रिया भी हो सकती है।

शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण इस प्रकार से दिया है –

[1]"स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः।"

अर्थात अन्य स्थान पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मृति जैसा अवभास होना। इसमें "परत्र अवभासः" इतना ही अध्यास का लक्षण है। "स्मृतिरूप" और "पूर्वदृष्टावभास" ये दोनों ही अध्यास के साधक हैं। "परत्र अवभास" का अर्थ है– परत्र (अधिष्ठान में या विद्यमान वस्तु में) अवभास (किसी अन्य वस्तु की प्रतीति होना) अन्य भासित होने वाली वस्तु स्मृति के आधार पर प्राप्त होती है। स्मृति उसी वस्तु की होती है जिसे हमने पहले देखा था।

यहाँ "स्मृति रूपः पद पर विशेष ध्यान देना होगा। स्मृति के लिए तो नियत कारण रूप से पूर्वानुभव अपेक्षित है, किन्तु जगत् की प्रतिभासिक सत्ता सिद्ध करने के लिये पूर्वानुभूति मानने में अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अतः अध्यास की अवस्था में भासित होने वाली वस्तु स्मृति नहीं मानी जा सकती। "रूप" शब्द सादृश्य का वाचक है। जैसे रस्सी पर सर्प का अध्यास सर्प की स्मृति से उत्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म पर जगत् का अध्यास् भासित होता

---

1 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य – पृ0 –4

है। जगत् स्मृति से उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु उसकी सत्ता स्मर्यमाण के सदृश कही जाती है।

अध्यास की परिभाषा पर विचार करने पर संक्षिप्त निर्णय निकलता है कि –

[1]"अध्यासों नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः"

अर्थात अतद् में तद् बुद्धि ही अध्यास है। वस्तु जैसी है उसके विपरीत लक्षणों वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाना अध्यास कहलाता है–

[2]अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।

रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।

"आश्चर्य है कि कल्पित विश्व अज्ञान के कारण मुझमे ऐसे भासता है, जैसे – शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, सूर्य की किरण में जल भासता है।

अब विचार करना चाहिए कि वह अनर्थकारी अध्यास कौन है? जिसके कारण मनुष्य कर्म–बंधन और दुःखों में पड़ता है।

आचार्य की वर्णन शैली से ज्ञात होता है कि अध्यास में दो वस्तुएं होती हैं– अधिष्ठान और अध्यस्त वस्तु। अधिष्ठान सत् वस्तु होती है और अध्यस्त वस्तु मन कल्पित होती है। अध्यास के समय

---

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, प्रस्तावना, पृ0 17
2. अष्टावक्रगीता – 2.9

दोनों वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है दृष्टान्त में शुक्ति अधिष्ठान है, और रजत उस पर अध्यस्त है। प्रथम सत् है और दूसरी मिथ्या। भ्रमकाल में शुक्तिरूप अधिष्ठान मिथ्या रजत से आच्छादित हो जाता है, और भ्रम में पड़े व्यक्ति को केवल रजत दिखाई देता है इसे स्वरूपाध्यास कहते हैं। रजत शुक्ति में स्वरूप से अध्यस्त होने के कारण यह स्वरूपाध्यास है।

भ्रमकाल में शुक्ति भले ही रजत के समान भासित हो किन्तु उसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। भ्रम निवारण होने पर शुक्ति जैसी प्राप्त होती है जैसी ही भ्रमकाल में भी रहती है इस सुक्ति का रजत के साथ सम्बन्ध संसर्गाध्यास है। शंकराचार्य इन दोनों प्रकार के अध्यास का निरूपण इस प्रकार करते हैं –

> [1]अहं प्रत्ययियिनम शेष स्वप्रचार साक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्व साक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिषु अध्यस्यति।
>
> अर्थात अहं प्रत्यय वाले अन्तःकरण का उस प्रत्यगात्मा पर अध्यास है जो अंतःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षी है और इसके सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास है। इसमें पहला स्वरूपध्यास है और दूसरा संसर्गाध्यास है। सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा पर अंतःकरण का

---

1 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य – पृ0 17

अध्यास होने पर सत् स्वरूप आत्मा परिछिन्न हो जाता है,उसकी प्रतीति नहीं होती। अध्यस्त अतःकरण ही हमे भ्रमकाल में उपलब्ध होता है। अंतःकरण में ही अहं वृत्ति उत्पन्न होती है, और उसके कारण ऐसा अनुभव होता है मानो यह अहं वृत्ति युक्त अंतःकरण ही 'हम' है। यह स्वरूपाध्यास है और इसका अनर्थ यह है कि हम अंतकरण, इन्द्रिय शरीर आदि को ही अपना रूप मान लेते हैं इस अनर्थ की तरफ संकेत करते हुऐ आचार्य इससे सावधान रहने का उपदेश इस प्रकार देते हैं –

[1]गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।

आत्म न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि।।

"देह गुणों से लिपटा हुआ स्थित होता है, वह आता है और जाता है। आत्म न आने वाला है, न जाने वाला है। इस पर क्यों दुःखी होता है ?"

इसी के साथ प्रत्यगात्मा का अध्यास अंतःकरण आदि पर भी होता है यह संसर्गाध्यास है, इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि आत्मा अहंकार आदि प्रपंच से अत्यन्त विलक्षण है किन्तु उसमें अनात्मा के धर्म अनुभव होते हैं। स्वरूपाध्यास से कर्तृत्य, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या प्रतीति होती है और

---

1. अष्टावक्रगीता – 15.9

संसर्गाध्यास से असंग आत्मा में भी सुख–दुख का अनुभव होता है।

अध्यास का अन्य प्रकार से विचार करें तो उसे धर्मी और धर्म के वर्ग में बाँट सकते हैं। आत्मा और अनात्मा धर्मी है। उन दोनो का अन्योन्याध्यास धर्मी अध्यास है। इसी अध्यास के दो भेद स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास है। दोनो धर्मियों के अपने–अपने पृथक धर्म हैं। इन धर्मों का एक दूसरे पर जो अध्यास है होता है वह धर्माध्यास है। आचार्य इसी बात को इस प्रकार से कहते हैं–

[1]निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामोविषयेषु च।

निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।।

"पुत्र, पत्नी आदि में आसक्तिरहित और विषयों में कामना रहित अपने शरीर के प्रति भी निश्चिन्त, आशारहित, आत्मज्ञानी सुशोभित होता है।"

आचार्य का आशय है कि पुत्र, पत्नी आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास कोई करता है या शरीर से मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ मै। जाता हूँ, मैं बधिर हूँ,

---

1. अष्टावक्र गीता – 18.84

मैं अंधा हूँ इस प्रकार इन्द्रियों के धर्मो का अध्यास करता है, तो वह अज्ञान ही है।

आचार्यशंकर ने अध्यास की कुछ विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है अष्टावक्र भी अपने उपदेश से इन्हीं विशेषताओं की तरफ संकेत करते हैं।

[1]अपमनादिरनन्तों नैसर्गिकोऽध्यासों मिथ्याप्रत्ययरुपः कर्तृत्व–भोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः।

अर्थात– "यह अध्यास अनादि, अनंत, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञान रूप और कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष है।

1. अध्यास अनादि अनंत है – अध्यास अविद्या रूप होता है अविद्या अनादि है अज्ञान में पड़ा व्यक्ति अपने अज्ञान का प्रारम्भ खोजे तो उसे वह न मिलेगा। यदि आपको अपनी किसी वस्तु का मूल्य ज्ञात नहीं तो आप यह भी नहीं बता सकते कि वह कब से आपको अज्ञात है।

   इसी प्रकार हम यह खोजकर नहीं बता सकते कि हमें अपने आत्म स्वरूप का बोध कब से नहीं है इससे अध्यास का अनादि होना सिद्ध होता है।

---

1 आचार्यशंकर

अध्यास अनंत भी है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह कभी नष्ट नहीं होता अष्टावक्र जी स्वयं कहते हैं कि यह ज्ञान से नष्ट हो जाता है –

[1]निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढ़ाः संसार पोषकः।

एतस्यानर्थ मूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।।

"ज्ञान के आधार से रहित, मुक्ति के ग्रहण के लिए व्यग्र मूढ़ जन संसार के पोषक होते हैं। अनर्थ के मूल इस संसार का मूलच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया जाता है।"

अतः अध्यास के अनंत होने का अर्थ यही हो सकता है कि एक व्यक्ति का अध्यास नष्ट होने पर भी अन्य व्यक्तियों में यह देखा जाता है।

2. अध्यास नैसर्गिक है – यह अध्यास का भ्रम न ईश्वर ने उत्पन्न किया है, न माया ने और न जीव ने, यह तो नैसर्गिक है। जैसे मरुस्थल में जल की प्रतीति उत्पन्न करने का दायित्व न बालू पर है, न सूर्य पर और न नेत्रों पर। प्रकृति के नियम ही ऐसे है कि सूर्य के प्रकाश में बालू जल के समान चमकती है और देखने वाले को वहाँ जल दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रकृति से लोकों और शरीर का सर्जन होता है। बुद्धि वृत्तियों से ज्ञाता–ज्ञेय भेद उत्पन्न होता है,

---

1. अष्टावक्रगीता – 18.38

और दोनो का अधिष्ठान रूप परमात्मा आच्छादित सा हो जाता है। यह सब कुछ नैसर्गिक है।

3. मिथ्या ज्ञान रूप – अध्यास नैसर्गिक होने का अर्थ यह नहीं कि वह सत्य है। अध्यास स्वयं मिथ्याज्ञान रूप है, किन्तु उसमें स्थिर व्यक्ति को अनात्मा ही आत्मा भासित होता है और यह मिथ्या ज्ञान ही सत् प्रतीत होता है। इस सत्यत्त्व बुद्धि के कारण अपने मिथ्याज्ञान के प्रतिशंका नहीं होती है और व्यक्ति अपने राग–द्वेष से उत्पन्न अनेक समस्याओं में फँसा रहता है।

4. कर्तृत्व–भोक्तृत्व का प्रवर्तक – अध्यास ही अविद्या है और अविद्या से अहंकार, विषयों की आसक्ति, कामना, कर्म कर्मानुसार सुख दुःख की प्राप्ति उनका भोग, भोक्तृत्व, वासनायें, पुनर्जन्म का चक्र प्रवर्तित होता है। जब तक अध्यास रहता है जीव संसार सागर में डूबा रहता है और जन्म – मरण चक्र चलता रहता है।

5. सर्वजन प्रत्यक्ष – कर्ता– भोक्ता भाव सभी मनुष्यों को अनुभव हो रहा है। इससे सिद्ध होता है कि ये सब अध्यास में स्थित है और उसके कारण संसार दुःखों से पीड़ित है इसके लिए किसी तर्क या शास्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अष्टावक्र गीता में माया, अध्यास, अज्ञान ये सब समानार्थी शब्द हैं आचार्य के उपदेश से यह स्पष्ट है कि

जगत् का नानात्व एवं द्वैत की समस्या माया द्वारा ही सुलझाई गयी है।

[1]मायामात्र मिदं विश्वं पश्यन् विगत कौतुकः।

अपि सन्निहिते मृत्यो कथं त्रस्यति धीरधीः।।

अर्थात – "जिसका कौतुक समाप्त हो गया है, वह धीर बुद्धि वाला पुरूष इस विश्व को माया मात्र देखता हुआ, मृत्यु के समीप आने पर क्यों भयभीत होता है?"

अद्वैत और नानात्व दो विरोधी संप्रत्यय है आचार्य निश्चय ही अद्वैत की स्थापना करना चाहते हैं किन्तु विश्व में नानात्व है। अद्वैत में नानात्व कैसे उत्पन्न होता है? इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने माया की अवधारण को स्वीकार किया है माया अनिवर्चनीय तथा मिथ्या है इसलिए मायाकल्पित समस्त विश्व भी म्थ्यि है। इस नानात्व पूर्ण विश्व के माया द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपित होने से अद्वैत समाप्त नहीं होता। यह सामान्य अनुभव का तथ्य है कि हम शरीर के गुण आत्मा पर और आत्मा के गुण शरीर पर अध्यारोपित करते हैं। यही नहीं हम अपने शरीर को आत्मा समझते हैं और आत्मा को शरीर समझ लेते हैं। प्रश्न है कि इस प्रकार अनुभव किस प्रकार होता है? शुद्ध विषयी, विषय

---

1. अष्टावक्रगीता – 3.11

रूप में कैसे भासित होता है? अष्टावक्र इस प्रकार के अनुभव की व्याख्या अज्ञान के द्वारा ही की है।

आत्म के शुद्ध स्वरूप को अक्षुण्य रखते हुए शरीर से उसकी एकता के अनुभव की व्याख्या अध्यास के अभाव में सम्भव नहीं है आचार्य अष्टावक्र ने सम्भवतः इस तथ्य को समझकर ही अपने उपदेश में अध्यास को स्थान दिया। यदि कोई यह कहे कि दो स्थूल वस्तुओं के गुणों को ही एक दूसरे पर अध्यारोपित किया जा सकता है, किन्तु आत्मा स्थूल वस्तु नहीं है, अतः उसके गुणों का शरीर पर या शरीर के गुणों का आत्मा पर अध्यारोपण नहीं हो सकता इसके उत्तर में आचार्य के उपदेश का निम्नलिखित श्लोक पर्याप्त है–

[1]तज्ज्ञस्य पुण्य पापाभ्यां स्पर्शोह्यन्तर्न जायते।

न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः।।

अर्थात – "उसको जानने वाले के अंतःकरण का पुण्य–पापों से स्पर्श निश्चय ही नहीं होता, जैसे आकाश का सम्बन्ध देखा जाता हुआ भी, धूम से नहीं है।"

आकाश अप्रत्यक्ष है। वह कोई स्थूल वस्तु भी नहीं है फिर भी अल्पबुद्धि के मनुष्य उस पर धूम का अध्यारोपण करते हैं। यह अध्यास कब से है और कब तक रहेगा तो इसके

---

1. अष्टावक्रगीता – 4.3

उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अध्यास अनादि है किन्तु अनंत नहीं परन्तु सामूहिक रूप से अध्यास अनादि एवं अनंत दोनो हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अष्टावक्र ने विश्व एवं व्यक्ति से सम्बन्धित जटिल समस्याओं को अध्यास द्वारा ही सुलझाया है।

सत् स्वरूप आत्मा का जो धर्म है, असत् स्वरूप अनात्मा का धर्म उसके विपरीत है जिस वस्तु के जो धर्म है वे यदि दिखाई दे तो न अध्यास होगा और न अज्ञान का प्रश्न उठेगा, किन्तु जब सत्य का धर्म असत् और असत् का धर्म सत् में दिखाई देता है और वही उसे स्वीकार कर लेते हैं? तो इसे अध्यास कहते हैं और अध्यस्त धर्मो को सत्य मानना अज्ञान कहलाता है।

अध्यास का कारण अविवेक इसलिए है कि सत् के धर्म सत् में न दिखाई देकर असत् में दिखाई देते हैं और इसी प्रकार असत् के धर्म, सत् में दिखाई देते हैं। इसके विपरीत विवेक तभी है जब सत् के धर्म या लक्षण सत् में ही दिखायी दे और उन लक्षणों से सत् को ही सत् माने, इसी प्रकार असत् के धर्म असत् में देखकर उसी को असत् समझना भी विवेक है। इस विवेक के धर्मो और धर्मियों का यथावत ज्ञान होना चाहिए अविवेक होने में स्थिति बदल जाती है, अतः अविवेक में ही अध्यास का अनुभव होता है।

अविवेक के अतिरिक्त अध्यास का कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता। आत्मा और अनात्मा या सत् और असत् का परस्पर वास्तविक अध्यास नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अखंड है। उसमें न कोई अंश है न उसमें अध्यस्त भासित होता हुआ अनात्म पूर्व दृष्ट है। जड़ - चेतन के धर्म परस्पर विरोधी हैं, अतः एक दूसरे में प्रसरण भी नहीं हो सकता, केवल अज्ञान से ही धर्मों की अन्यत्र कल्पना हो सकती है। इसी बात को अष्टावक्रगीता में इस प्रकार से कहा गया है-

[1]त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जड़ं विश्वम सत्ताया।

अविद्यापि न किन्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते।।

"तू एक शुद्ध, चेतन है। विश्व जड़ और असत् है, अविद्या भी कुछ नहीं होती। ऐसा होने पर भी तेरी कौन सी वह जानने की इच्छा है?"

(ii) अज्ञान का परमसत्ता (ब्रह्म) से सम्बन्ध -

आचार्य अष्टावक्र के अनुसार - ब्रह्म तथा अविद्या के अज्ञान मूलक द्वैत से सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। समष्टि तथा व्यष्टि वस्तुतः अज्ञान मूलक हैं। जगत् की सारी यथार्थता की स्वतंत्रत सत्ता नहीं है, बल्कि ब्रह्म की ही यह सारी यथार्थता है, यह उसका कोई विशेष अंश या आभास नहीं अपितु स्वभाव ही है नाम

---

1 अष्टावक्रगीता - 10.5

रूपात्मक, जगत् अपनी सत्ता के लिये ब्रह्म की ही सत्ता का आभारी है। वस्तु के अस्तित्व से ही अनुप्राणित होने के कारण आभासमान समस्त अस्तित्व का वस्तुत्व है, बाध इसी आभास का होता है वास्तविक निरपेक्ष सत्ता का नहीं। आचार्य- माया या अविद्या के द्वारा ब्रह्म का गोपन तथा उस पर जगत् के विभिन्न स्तर के नामरूपों की कल्पना मानते है। वस्तुतः यह नामरूपात्मक जगत् की कल्पना ब्रह्म की शक्ति अविद्या के कारण है, और अविद्या भी ब्रह्म से परे कुछ भी नहीं है।

आचार्य अविद्या को औवबंधिक मानकर ब्रह्म को ही निरपेक्ष सत्य मानते हैं। ब्रह्म की आज्ञा से माया अपनी क्षमता का अद्‌भुत प्रदर्शन करती है सारा विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है इसका सत्त्व ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है, तथा अंत में इसका ब्रह्म के स्वरूप में ही विलय होकर ब्रह्मभाव हो जाता है। यह जगत् ब्रह्म से अलग कोई सत्य नहीं अपितु यह इसी रूप में ब्रह्म से उद्‌भूत ही है ब्रह्मविवर्तवाद तथा ब्रह्म परिणामवाद उसे जो भी कहें वास्तविकता दोनो की एकता तथा जगत् की ब्रह्म मूलता में ही है। अविद्या स्वयं में असत् होने के कारण स्वतंत्र सत्ता नहीं है लेकिन अपने कार्य के रूप में वह बहुत कुछ है। या यदि कहा जाय कि वही व्यवहार में आने वाला सब कुछ है तो अत्युक्ति नहीं होगी, उसका आभास उसकी क्रिया के द्वारा होता है। सारा जगत् व्यवहार में समर्थ होने

पर स्वप्न की भांति स्वतंत्र सत्ता वाला नहीं है इसका स्वभाव ही यथार्थता का मिथ्यात्व है।

इस प्रकार आचार्य बार-बार यह स्पष्ट करते हैं कि जगत् ब्रह्म से अलग न होकर बल्कि ब्रह्म ही है और ब्रह्म तथा जगत् में किसी प्रकार द्वैत नहीं है जो द्वैत आभासित होता है वह अविद्या अथवा अज्ञान के कारण है, इसको स्पष्ट करने के लिये आचार्य प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, विवर्तवाद आदि के माध्यम से एक सत् की प्रतिष्ठा करते हैं। वस्तुतः आचार्य का उद्देश्य किसी सिद्धांत विशेष की प्रतिष्ठा न होकर जीव कल्याण हेतु उसे स्वरूपबोध कराना है। जीव के शोक मुक्त अर्थात समस्त भय, चिन्ता, क्लेश और दुःख से मुक्त होने का एकमात्र उपाय अपने मूलभूत शुद्ध चैतन्यस्वरूप का बोध होना है। जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप एवं आनंद-स्वरूप परब्रह्मपरमात्मा का अंश है तथा तत्त्वतः स्वयं वही है, दोनों में अभेद है अंश और अंशी में भेद नहीं होता जैसे- तरंग और जल में भेद नहीं होता।

[1]एकोविशुद्धबोधोऽमिति निश्चय वह्निना।

प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।।

---

1 अष्टावक्रगीता - 1/9

"मैं एक विशुद्ध बोधरूप हूँ, ऐसा निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान रूपी वन को जलाकर, शोक मुक्त हुआ तू, सुखी हो जा।"

अज्ञान ही समस्त दुःख का कारण है क्योंकि इसी से जीव को अपने सत् स्वरूप का बोध नहीं हो पाता अज्ञान सत्य अर्थात ब्रह्म का संदर्शन नहीं होने देता; जैसे अंधकार गहन वन में मार्ग को देखने नहीं देता है। अज्ञान जीव की चेतना को मलिन कर देता है तथा ज्ञान उसे निर्मल कर देता है। कर्ता और भोक्ता होने के भ्रम का निवारण भी जीव के आत्मबोध से ही संभव होता है। 'मैं विशुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ' यह निश्चय ही जीव के अज्ञान को नष्ट करके उसे वीतशोक एवं आनंदपूर्ण कर सकता है।

जीव अज्ञान के कारण स्वयं को बद्ध मानकर सुखी-दुःखी होता है, तथा ज्ञान होने पर मुक्त होने का अनुभव कर लेता है। वास्तव में वह सर्वदा मुक्त ही है तथा साक्षात ब्रह्म ही है। परम सत्ता एक तथा अखंड है। उसमे स्वगत आदि भी कोई भी भेद नहीं है द्वैत की अनुभूति जीव को अज्ञान के कारण ही होती है। जिस प्रकार एक ही आकाश घटों के भीतर और बाहर स्थित होता है उसी प्रकार परमात्मा (ब्रह्म) भी सभी प्राणियों में वही है किन्तु अज्ञान के कारण ही उसमें स्वरूप भेद आभासित होता है। अज्ञान के दूर होने पर एक मात्र ब्रह्म की सत्ता रहती है तथा सम्पूर्ण जगत् में बाहर, भीतर तथा मध्य में व्याप्त रहता है।

आचार्य जहाँ एक तरफ जगत्, परमतत्त्व या ब्रह्म के संदर्भ में व्याख्यायित करते समय 'ब्रह्म' ही कहते हैं, वहीं पर जब वे जीव के संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं तो उस दृष्टि से जगत् को माया मात्र कहते हैं -

[1]मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन विगत कौतुकः।

अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः।।[1]

" जिसका कौतुक समाप्त हो गया है, वह धीर बुद्धिवाला पुरुष इस विश्व को मायामात्र देखता हुआ, मृत्यु के समीप आने पर क्यों भयभीत होता है ?"

इस प्रकार यदि जगत् की परिकल्पना ब्रह्म स्वरूप के रूप में की जाती है तो सब कुछ ब्रह्म ही है, और जगत् की अलग से कोई सत्ता नहीं है, और यदि जीव से संदर्भित जगत् की व्याख्या करते हैं तो इस जगत् प्रतीति को मात्र अज्ञान जन्य बताते हैं। इसलिए ब्रह्म ही एकतात्र सत् है और विश्वरूप है ब्रह्म से अलग विश्व की कोई सत्ता नहीं है।

[2]बुद्धि पर्यन्त संसारे माया मात्रं विवर्तते।

निर्ममोनिरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः।।[2]

---

1. अष्टावक्र गीता - 3/11
2. अष्टावक्र गीता - 18/73

"इस संसार में जो आत्मज्ञान होने तक ही वास्तविक दीखता है, माया मात्र ही प्रभावी होता है। ज्ञानीपुरूष ममत्व रहित, अहंकार रहित, कामना रहित होकर शोभायमान होता हैं।"

(iii) अज्ञान का जीव से सम्बन्ध –

अविद्या अथवा अज्ञान के कारण ही जीव का जीवत्व अथवा उसका बंधन होता है वस्तुतः तो जीव अलग से कोई सत्ता नहीं है बल्कि यह ब्रह्म ही है – वही अज्ञान या अविद्या से उपहित होकर जीव कहलाता है, अतः अज्ञान जीव के जीवत्व का हेतु है। जीव का अविद्या के साथ एक बार सम्पर्क हो जाने पर जन्म-जन्मान्तर तक उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। जीव की मुक्ति अर्थात अविद्या से सदा सर्वदा के लिये छुटकारा उसे तभी होता है जबकि उसको स्वरूप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अविद्या के साथ सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप आत्मा को जीवत्वं संज्ञा मिलती है। अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा ही जीव कहलाता है जीव और अविद्या में अंतर यह है कि जीव की प्रतीति स्वतः होती है जबकि अविद्या की प्रतीति जीव के बल पर होती है। अविद्या से सम्पर्क हो जाने पर जीव शरीरादि से भिन्न होते हुए भी अपने को अभिन्न मानने लगता है और जगत् में नानात्व की अनुभूति करते हुए सुख दुःख का भागी बनता है।

कठोपनिषद के भाष्य में आचार्य ने अविद्या को प्रय विषयक बताया है। अविद्या में फँसे हुए जीव पुत्र, पशु इत्यादि सैकड़ों तृष्णा पाशों में बंधे हुए व्यवहार में लगे रहते हैं और अपने को विवेकी मानते हुए मूढ़ पुरुष नाना प्रकार की अत्यन्त कुटिल गतिविधियों को प्राप्त करते हुए जरा मरण रोगादि दुःखो से सब ओर भटकते रहते हैं।

[1]अविद्यायामन्तरेमध्येधनीभूतइव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाःपुत्रपश्वादि तृष्णापाशशतैः। ते कुटिलामनेक रूपांगतिम् इच्छन्तो जरामरण रोगादि दुखैः परियन्ति।

अविद्या एक ऐसी शक्ति है जो जीव को अपने स्वरूप से दूर रखती है ब्रह्म की, जगत् के रूप में प्रतीति जीव के अज्ञान के कारण होती है वैसे ही जैसे - रस्सी का साँप के रूप में प्रतीत होना हमारे इन्द्रिय दोष के कारण होती है इस जीवत्व की प्रतीति अप्रतीति दोनों ही अविद्या के कारण है।

अष्टावक्रगीता में आचार्य यह स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि संसार में विभिन्न कर्मो को करने वाला और उन कर्म फलों को भोगने वाला जीव, स्वयं को समझने लगता है, जबकि स्थिति इससे अत्यन्त भिन्न है। जीववात्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व असम्भव है क्योंकि वस्तुतः तो वह शुद्ध ब्रह्म ही है।

---

1 **शांकरभाष्यकठोपनिषद** 1.2.5

अविद्या ग्रस्त जीव को अपने सत् स्वरूप का ज्ञान नही रह जाता अज्ञान के संस्कार से युक्त होकर संसार के कष्टों को भोगता है। वह देहादि को ही अपना स्वरूप समझ बैठ्ता है, और संसार में अनेकत्व की अनुभूति करता है। यहीं उसके नाना प्रकार के दुःखों का कारण बनता है और उसके जीवत्व का हेतु भी– बद्ध जीव स्व्यं में क्या है? आचार्यअष्टावक्र उसका परिचय देते हुए कभी उसे परमसत्ता का आभास कभी परमसत्ता का अवच्छिन्न रूप कहते हैं। जीव की तात्कालिक पहचान उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमान है। इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के रहने तक ही कर्तृत्वादि अभिमान है और जीव भाव है। अविद्या अध्यास के अतिरिक्त कुछ नहीं है जैसे सुक्ति में रजत की प्रतीति और रज्जु में सर्प की।

आत्मा शुद्ध, निर्विकार सत् वस्तु है, उसका अनात्मा से संसर्ग संभव न होने पर भी अध्यास या अज्ञान के कारण होता हुआ सा भासित होता है। इसी के परिणाम स्वरूप आत्म में जीव भाव की प्रतीति होती है।

तात्पर्य यह है कि वह न आत्मा है और न उससे अन्य कोई वस्तु, फिर वह क्याहै ? आत्मा, अनात्मा की उपाधियों में अपने स्वरूप लक्षणों को भूलकर अज्ञानवश अनात्मा के लक्षण अपने

मानकर जीव कहलाता है। इस स्थिति का वर्णन आचार्य ने अवच्छेदवाद, अभासवाद आदि का दृष्टान्त देकर किया है।

अज्ञान भ्रम से जो जीव भाव की प्राप्ति होती है वह वास्तविक नहीं है। जैसे भ्रम की स्थिति पर्यन्त ही रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, भ्रम के नाश होने पर फिर सर्प प्रतीति नहीं होती है।

(IV) अज्ञान का जगत् से सम्बन्ध–

जगत् के आधार रूप में जहाँ इसका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है वहीं इसकी पृथक प्रतीत के मूल में हमारा अज्ञान है। इसी को आचार्य अज्ञान अथवा अविद्या कहते हैं। अज्ञान का तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् एक भ्रान्ति है या इसकी सत्ता ही नहीं है इसलिए इस पर गम्भीरता पूर्वक विचार ही नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि आचार्य अष्टावक्र जी का आशय यह है कि –

> यह वास्तविकता जो सारे विश्व में व्याप्त है हमारे हृदय के भीतर अनंत गहराइयों में हमारे स्वत्व के रूप में प्रतिष्ठित है, तथा उसकी सत्यता के समक्ष उसकी शक्ति जो समस्त जगत् को भिन्न रूप की प्रतीति कराती है पृथक रूप से बुद्धिगम्य न होने के कारण सत्ताहीन सिद्ध होती है। सामान्यतः हम ब्रह्म को जगत् का कारण व्याख्यात करते समय ब्रह्म को जगत् से अलग उससे पहले ब्रह्म की

अनिवार्य अवधारणा अपने जागतिक प्रत्ययों के समानान्तर बना लेते हैं। उसको निरपेक्ष या पूर्ण काल कहते समय जगत् से परे होने की बात बुद्धि में पहले उतार लेते हैं। जगत् की सारी पूर्व अवधारणायें ब्रह्म तथा जगत् के सारे सम्बन्धों में असफल है। यही जगत् को अविद्या या अज्ञान के नाम से उपाधि है। जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्म को इस रूप में व्याख्यात ही नहीं किया जा सकता है। अविद्या या माया की सदसद् भिन्नता इसे निरपेक्ष सत्ता के अंतराल तक पहुॅचा देती है।

इस प्रकार अविद्या ब्रह्म की जगत् के रूप में अभिव्यक्ति की व्याख्या अपनी विभिन्न कार्यकारी योग्यताओं के कारण करती हैं। सत्य विषयक हमारा अज्ञान जो जगत् की पृथक प्रतीति का मूल कारण है, अपनी दोहरी भूमिका निभाता है अपनी पहली भूमिका में वह वस्तु के स्वरूप को आवृत्त करता है तथा दूसरी भूमिका में वह जगत् के प्रतीयमान स्वरूपों को क्रमशः अभिव्यक्ति में प्रस्तुत करता है हमारे ज्ञान को अपने धुंधलेपन से छिपाने वाली आवरक शक्ति यही अविद्या ही है। अज्ञान होने पर जगत् के प्रस्ताव की भूमिका तैयार होने लगती है। इसलिए देश, काल तथा कारण की अवधारणा उत्पन्न करके जगत् ब्रह्म से विजातीय तत्वों का भान आरम्भ हो जाता है। व्यष्टि से बंधे व्यक्तित्व की यह कल्पित परतंत्रता है जिसके कारण वह जगत् की ओर प्रवृत्त होता है।

अविद्या आनुभाविक जगत् का भावात्मक सत्य है। इसका निषेध केवल परमार्थ की दृष्टि से है तथा केवल उस स्थिति को बताने के लिये है कि यह व्यक्तित्व तथा परसत्ता के बीच की कल्पित खांई है, इसके परे जाने पर केवल एक ही सत्य (ब्रह्म) बचता है।

[1]मायाविद्ये विहायैवयुपाधो पर जीवयोः

अखण्डं सचिदानंदं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते।

इसलिए इसकी भावात्मक सत्ता, व्यवहार प्रसिद्ध की अपने स्तर की वास्तविकता बतलाने के लिये है।

अज्ञान और अज्ञानी की स्थिति रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने इस प्रकार से स्पष्ट किया है -

[2]अति विचित्र रघुपति चरित, जानहि परम सुजान।

जे मति मंद बिमोह बस, हृदय धरहि कछु आन।।

अज्ञान से उत्पन्न आसक्ति मूढ़ता है तथा ज्ञान से उसका त्याग होता है।

[3]मूढ़ो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितु मिच्छति

---

1 पंचदशी -1/48

2 रामचरितमानस - बालकाण्ड- 49वां दोहा

3 अष्टावक्रगीता - 18.37

"मूढ़ व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त नहीं करता क्योंकि वह ब्रह्म होने की इच्छा करता है।" अज्ञान से ही संसार वृक्ष का पोषण होता है।

[1]निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढ़ाः संसार पोषकाः।

ज्ञान के आधार से रहित मुक्ति के ग्रहण के लिए मूढ़ जन संसार के पोषक होते हैं।

अज्ञानी संसार में प्रत्यक्ष वस्तुओं को देख कर तथा प्रत्यक्ष प्रमाण को अंतिम समझकर पदार्थों को सत् मान लेता है, वह कार्यरूप पदार्थों के पृष्ठ में उनके कारण रूप चैतन्य सत्ता को नहीं देखता। अज्ञानी का ज्ञान सापेक्षिक, अपूर्ण तथा सीमित होता है। इस अल्प ज्ञान का आधार ज्ञाता, श्रेय, और ज्ञान की त्रिपुटी होती है।

अष्टावक्रगीता में देह को ही अपना स्वरूप मानने को अज्ञान कहा गया है ऐसा मानने पर व्यक्ति में धन, परिवार आदि के प्रति ममत्व और मोह की भावना अति प्रबल हो जाती है तथा ऐसा अज्ञान से ग्रस्त व्यक्ति संकीर्ण और स्वार्थी हो जाता है देह को दुख का स्वरूप मानने वाले व्यक्ति जीवन में शांति का अनुभव नहीं करते हैं, तथा सदा दुःख से ग्रस्त रहते है।

---

1 **अष्टावक्रगीता – 18.38**

अज्ञान स्वप्नवत होता है। अज्ञान की अवस्था में स्वप्न की भांति असत्य भी सत्य प्रतीत होता है, जिस प्रकार जागरण होने पर स्वप्न का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। मनुष्य स्वप्न में राजा अथवा रंङ्क हो जाता है तथा अनेक बार दुःस्वप्न देखकर भयभीत हो जाता है किन्तु जागृत होने पर वह सामान्य हो जाता है। जगत् की सत्ता अज्ञान के कारण है।

अज्ञान से उत्पन्न अहंकार के कारण मनुष्य समग्रता और समष्टि से पृथक हो जाता हैं

[1]तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।

त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी ना संसारी च कश्चन।।

"तेरे ही अज्ञान से संसार है। परमार्थः तू एक है। तेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है न संसारी और न असंसारी है।"

अज्ञान के कारण ही नाम रूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तथा ज्ञान होने पर जगत् आत्म रूप में स्थित हो जाता है।

(v) निष्कर्ष-

अज्ञान अथवा अविद्या ब्रह्म की वह शक्ति है। जिसके द्वारा इस नाम-रूपात्मक जगत् की प्रतीति हो रही है। यह अज्ञान

---

1. **अष्टावक्रगीता - 15.16**

जिसका कि निवास ब्रह्म ही है, किन्तु वह अज्ञान से प्रभावित नहीं होता है। जिस प्रकार रूपहीन आकाश पर नीले रंग को आरोपित करने से उसका प्रभाव आकाश पर नहीं पड़ता। यह अज्ञान ही है जिसके आधार पर विश्व का निर्माण होता है, जिस प्रकार एक जादूगर जादू की प्रवीणता से विभिन्न प्रकार के खेल दिखाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति अज्ञान से विश्व का नाम-रूपात्मक रूप उपस्थित करता है। अज्ञान सहित ब्रह्म ही ईश्वर संज्ञा को प्राप्त करता है।

चतुर्थ अध्याय

जीवस्वरूप

(i) जीव का स्वरूप–

परमार्थिक दशा में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है वरन् ब्रह्म ही है। उपनिषदों में जीव को अजन्मा, नित्य तथा अविकारी कहा गया है।

[1]अजोनित्यःशाश्वतोऽयं पुराणः।

इसके अतिरिक्त [2]अयंआत्मा ब्रह्म, [3]अहम ब्रह्मास्मि इत्यादि श्रुतियां भी स्पष्टतः जीव ब्रह्मैक्य का ही प्रतिपादन करती है। चूंकि जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है अतः चैतन्य स्वरूप होना उसका स्वाभाविक धर्म है। ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है किन्तु जीव बुद्धिआदि अचेतन तत्त्वों के धर्मो को स्वगत समझ लेता है, इसलिए उसके सत् और चित अर्थात चैतन्य रूप धर्म तो विद्यमान रहते हैं पर आनंद रूपता तिरोहित हो जाती है। जीव अचेतन शरीर का स्वामी है शरीर में जो चेतना हमें प्रतीत होती है वह शरीर और बुद्धि आदि जड़उपाधियों की न होकर आत्मा की होती है, क्योंकि जिस समय शरीर जीव से रहित हो जाता है अर्थात मृत्यु को प्राप्त हो जाता है उस समय शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। चेतना को जड़ उपाधियों का धर्म मानने पर उसे को शरीर का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए और ऐसा मानने पर मृत्यु का अभाव हो जायेगा, इसलिए इस चेतना को जीवात्मा का ही धर्म मानना सर्वथा उचित है। मृत्यु के समय चैतन्यस्वरूप आत्मा शरीर का परित्याग कर देता है।

---

1. कठोपनिषद 2/10
2. वृहदारण्यकउनिषद 2/5/19
3. वृहदारण्यकउनिषद 1/4/10

जीव शरीर का अध्यक्ष या स्वामी तो है ही साथ ही साथ प्राण के धारण करने वाला भी सिद्ध होता है।

जीव को ब्रह्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्धि आदि उपाधियों से परिछिन्न होकर ब्रह्म ही कर्तृत्व-भोतृत्व से युक्त जीव बन जाता है। यही जीव बुद्धि आदि उपाध्यिों से युक्त होकर शरीर में रहता हुआ कर्मफलों का उपभोग करता है, तथा उपाधि युक्त होने के कारण परिछिन्न ज्ञान वाला और सर्वज्ञत्व से रहित होता है। इसके अतिरिक्त जीव लोक में मुमुक्षु और ज्ञाता के रूप में भी जाना जाता है। कर्तृत्व आत्मा का तात्त्विक धर्म नहीं है जब तक जीवात्मा अपने को उपाधिजन्य कर्तव्य से मुक्त नहीं कर लेता अर्थात स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक ब्रह्मत्व को नहीं प्राप्त कर पाता है। उपाधियों के नष्ट होते ही जीवत्व तत्क्षण नष्ट हो जाता है क्योंकि उपाधि के बिना जीवभाव सम्भव नहीं है, अतः जीवात्मा का कर्तव्य उपाधिनिमित्तक है। जीव की वास्तविक उत्पत्ति तो असम्भव है क्योंकि उपाधि के सम्पर्क से ही जीवत्व की प्राप्ति होती है परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म, निरवयव और सर्वगत कहा गया है वही घट रूप देहसंघात में धटाकाश सदृश क्षेत्रज्ञ जीवों के रूप में कहा जाता है। अर्थात जिस प्रकार घटाकाशों के रूप में आकाश प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म जीव रूप में प्रतीत होता है। और जिस प्रकार से घट के नाश होने से घटाकाशादि का नाश होता है उसी प्रकार देहादि संघात के नाश होने पर जीवों का भी ब्रह्म में लय हो जाता है। स्थूल देह या

पन्चभौतिक शरीर की उत्पत्ति और नाश अर्थात जीवन और मृत्यु का चक्र तो निरंतर चलता रहता है। परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार जो सूक्ष्म शरीर या लिङ्गदेह मिल जाता है तो जीव के साथ उसका सम्बन्ध विच्छेद तभी होता है जब आत्मसाक्षात्कार के द्वारा उपाधि का नाश हो जाता है। जीव शरीर में रहता है उसी शरीर के माध्यम से कर्म करता है और कर्मफलों का उपभोग करता है क्योंकि यह भौतिक शरीर ही जीव का आश्रय है। जीवन के प्रति उपाधियों की परिछिन्नता आकाश के प्रति घटादि उपाधियों की भांति ही है।

इस अचेतन शरीर के चेतन स्वामी जीव का स्वरूप चैतन्य है। वही जीवन पर्यन्त भासित होता रहता है, तथा किसी भी कार्य को करने की प्रेरणा देता है और मृत्यु के पश्चात चैतन्य जीव शरीर से निकल जाता है। बुद्धिआदि का सम्पर्क होने के कारण द्रष्टा, श्रोता आदि संज्ञाओं से युक्त यह जीवात्मा अंतर्यामित्व से रहित होता है और घटाकाश के समान जीव में शरीरादि उपाधियों से परिछिन्न होने के कारण सब प्रकार से पृथ्वी आदि का नियमन करने में भी असमर्थ है। अष्टावक्रगीता में जीव की सत्ता वास्तविक न होकर औपाधिक मानी गयी है। परमात्मा से भिन्न जीव कोई पृथक अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि जीव या ब्रह्म एक ही है। परमात्मा ही जीव रूप में संसार में प्रकट होता है। जीव ही सुख–दुख रूप कर्मो का कर्ता और भोक्ता है। समस्त प्रतीयमान जीव जड़ात्मक जगत् ब्रह्म रूप ही है। यहाँ यह शंका होती है यदि अष्टावक्रगीता में स्वीकृत आत्मा निरवयव और निरांश है

तो फिर जीव उसका अंश कैसे हो सकता है इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य का अंश कहा जाता है फिर भी जल रूप उपाधि के नष्ट होने पर उसकी पृथक सत्ता नहीं रह जाती या जैसे घटादि उपाधियों से अवच्छिन्न निरंश आकाश भी अंश वाला प्रतीत होता है, परन्तु उपाधि के नष्ट होने पर आकाश भेद रहित हो जाता है, वैसे ही शरीर रूप अविद्या निमित्तक उपाधियों के कारण ही जीव परमात्मा का अंश कहा गया है। यह अंशत्व कोई अलग स्थित होने वाले टुकड़े की भाँति नहीं होता है वरन जल सूर्य या घटाकाश आदि की भाँति समझा जाना चाहिए जिस प्रकार आकाश के निरवयव होने पर भी घटाकाश मठाकाश इत्यादि उसके अंश कहे जाते हैं उसी प्रकार निरंश और निरवयव परमात्मा के अंश के रूप में जीव का प्रतिपादन भी समझा जाना चाहिए।

जीव यद्यपि संसार में अपने किये गये कर्मो के अनुसार ही जन्म लेते हैं फिर भी त्रिगुणात्मक भोगों को भोगने वाला यह जीवात्मा वास्तविक रूप में न तो जन्म लेता है और न मरता है। अष्टावक्रगीता के अनुसार - जीव देहाभिमान के कारण न केवल अपने देह, मन और इन्द्रियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, बल्कि व्यक्तियों और पदार्थो के साथ भी ममत्व का नाता जोड़ लेता है तथा इन्हीं के कारण भय और चिन्ता से ग्रस्त रहता है, इस पाश को काटने का और जीव के मुक्त होने का एक मात्र उपाय आत्मबोध है। जीव परमात्मा या ब्रह्म का आभास है है वह दर्पण में प्रविष्ट पुरुष के प्रतिबिम्ब के

समान तथा जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान ही बुद्धि आदि भूतमात्राओं के संसर्ग से उत्पन्न होता है।

[1]"जीवोहि नामदेवतायाआभासमात्रम्। बुद्धियादि भूतमात्रां संसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः पुरूषप्रतिबिम्बो जलदिष्वित्र च सूर्यादीनाम।

बुद्धि से संसर्ग हुए बिना ब्रह्म 'जीवत्व' नामक उपाधि से युक्त नहीं हो सकता अर्थात बुद्धि ही एक ऐसा माध्यम है जिसमें प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म जीव संज्ञा को प्राप्त करता है।

चूंकि जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है अतः चैतन्यस्वरूप होना उसका स्वाभाविक धर्म है ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप होता है, और जीव चूंकि बुद्धि आदि अचेतन तत्वों के धर्मो को स्वगत समझ लेता है इसलिए उसके सत् और चित् अर्थात चैतन्य रूप धर्म तो विद्यमान रहते है पर आनंद रूपता तिरोहित हो जाती है। उपनिषदों और स्मृतियों में विज्ञान शब्द जीव या शरीर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि शरीर विज्ञानमय ही है जो यह प्राणों में विज्ञान मय संसारी लक्षित होता है यह महान अजन्मा आत्मा परमेश्वर है।

[2]"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा

एष महाजनात्मा परमेश्वर"

---

1. शांकरभाष्यछान्दोग्योपनिषदः 6/3/2
2. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 1/2/42

उपाधि से परिछिन्न जीव में सर्वज्ञत्व का अभाव है। क्योंकि अविद्या के कारण उसका ज्ञान आवृत हुआ रहता है। जीव को अल्प महिमा वाला भी कहा गया है।

अष्टावक्रगीता में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत् नहीं कहा गया है एक मात्र अद्वय ब्रह्म ही सत् माना गया है इसलिए जीव भी या तो ब्रह्म ही होकर सत् होगा या ब्रह्म भिन्न होकर असत् होगा ब्रह्म होकर सत् होना जीव की ब्रह्म से परमार्थिक अभिन्नता का द्योतक है और ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रतीत होना उसकी माया मयता को प्रकट करता है।

[1]"मय्यनंत महाम्भोधौ चित्त वाते प्रशाम्यति।

अभाग्याज्जीव वणिजो जगत्पोतो विनश्वरः।।"

निष्कर्ष रूप में जीव का ब्रह्म से परमार्थिक रूप से अभेद तथा औपाधिक रूप से भेद स्वीकृत किया गया है। जीवात्मा एक व्यापारी की भाँति है उसके समस्त कर्म व्यापार है तथा उसे भले बुरे कर्मो के फलस्वरूप लाभ और हानि होती रहती हैं यह संसार एक पोत के सदृश्य है जहाँ वह व्यापार करता है। यह जगत् और जीव दोनों ही मिथ्या हैं जगत् और जीव चित्त से ही आरोपित होते हैं ज्ञान द्वारा चित्त का विक्षेप और लोप होने पर जगत् और जीव भी विलुप्त हो जाते हैं।

---

1. अष्टावक्रगीता 2/24

यह जीव रूपी व्यापारी संसार के भोगों का अभिलाषी है अर्थात इसकी जीवन नौका इस चित्त रूपी वायु के सहारे ही चलती है, अर्थात जीव का अस्तित्व तभी तक है जब तक यह चित्त विद्यमान है यदि यह चित्त रूपी वायु अधिक तेज हो जाती है विषय, वासनायें, अहंकार, लोभ आदि बहुत बढ़ जाते हैं। तो संसार में अत्याचार, दुराचार, वैमनस्य घृणा आदि भी बढ़ जाते हैं तो इस जीव रूपी व्यापारी की संसार नौका डूबने लगती है और यदि हवा शान्त हो जाती है तो इस हवा के सहारे चलने वाली संसार नौका चल नहीं सकती, वह वही विनाश को प्राप्त हो जाती है। इसलिए चित्त रूपी वायु ही इस संसार का आधार है जीवरूपी व्यापारी के लिये यह सौभाग्य है कि वायु न अधिक तीव्र चले संझावत, बवंडर, ऑधी, तूफान भी न आवे और न यह हवा बिल्कुल ही शान्त हो जाय कि जिससे नाव चले ही नहीं -

[1]मय्यनन्त महाम्भोधावाश्चर्य जीव वीचयः।

उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः।।

"आश्चर्य है कि अनंत महासागर रूप मुझमें जीव रूप तरंगे उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं खेलती हैं तथा स्वभाव से लय हो जाती है।"

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.25

उदय होने पर ऐसे ही विलुप्त हो जाती है जैसे तरङ्गें शान्त महासागर में उत्पन्न होकर परस्पर टकराकर, खेलकर अंत में स्वभावतः उसी में लीन हो जाती है तरङ्गों के विलुप्त होने पर एकमात्र शान्त महासिन्धु ही शेष रह जाता है। आत्मज्ञानी के भीतर ज्ञान द्वारा आत्म चैतन्य में जगत् और जीवात्माओं के विलुप्त हो जाने पर, एकमात्र शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार स्वप्न के समाप्त हो जाने पर स्वप्न के दृश्य मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान का जागरण होने पर असत् जगत् और जीव का लोप हो जाता है।

जीव का अज्ञान या अविद्या के साथ एक बार सम्पर्क हो जाने पर जन्म जनमान्तर तक उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है वह इसी संसार में नाना योनियों में विचरण करते हुए बारम्बार जन्म और मृत्यु को दोहराता हुआ जीवन पर्यन्त कष्टों को भोगता रहता है। जीव की मुक्ति अर्थात अविद्या से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा उसे तभी होता है जबकि उसको स्वरूपज्ञान हो जाता है, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अविद्या के साथ सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप आत्म को जीवत्वं संज्ञा मिलती है। जीव और अविद्या में अंतर यह है कि जीव की प्रतीति स्वतः होती है जबकि अविद्या की प्रतीति जीव के बल पर होती है। आचार्य शंकर ने इस मिथ्या प्रपंच की उत्पत्ति अविद्या से ही कही है।

[1]"अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्द निर्देश्या।"

आत्मा और अनात्मा अर्थात देह, इन्द्रिय आदि जड़ समुदाय ये दोनो धर्मी तथा इनके धर्म परस्पर विलक्षण होते हुए भी दोनों का विवेक न होने के कारण दोनो धर्मियों का एक दूसरे में अध्यास होता है अर्थात आत्मारूपी धर्मी में यह "मैं हूँ" ऐसी अनात्म बुद्धि तथा देह, इन्द्रिय आदि अनात्म में 'यह आत्म है', ऐसी आत्म-बुद्धि होती है। इस सत्य और अनृत का मिथुनी करण करके 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार मिथ्या ज्ञान निमित्तक लोक व्यवहार होता है।

इस प्रकार अविद्या से सम्पर्क हो जाने के पश्चात जीव को शरीर तथा इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है। जीव इन सभी के प्रति अहन्ता और ममता का अभिमान करने लगता है। शरीर और इन्द्रियों से युक्त होकर जीव उनसे भिन्न होते हुए भी अभिन्न मानता हुआ संसार-चक्र में भ्रमण करता है।

कठोपनिषद के भाष्य में आचार्य ने अविद्या को प्रेय विषयक बताया है। अविद्या में फंसे हुए जीव-पशु-पुत्र इत्यादि सैकड़ों तृष्णापाशों से बंधे हुए व्यवहार मे लगे रहते हैं, और अपने को विवेकी मानते हुए मूढ़ पुरूष नाना प्रकार की अत्यन्त कुटिल गतियों को प्राप्त हुए जरा, मरण और रोगादि दुःखों से सब ओर भटकते रहते हैं।

---

1. **शांकरभाष्यब्रह्मसूत्र 1/4/3**

[1]"अविद्याया मन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्र पश्वादि तृष्णापाशशतैः, ते .... कुटिला मनेक रूपांगतिम् इच्छन्तो जरामरण रोगादि दुःखैः परियन्ति।"

अष्टावक्रगीता में प्रकारान्तर से इसी बात को इस प्रकार से कहा गया है।

[2]निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामों विषयेषु च!

निश्चिन्तः स्वशररीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।।

"पुत्र पत्नी आदि में आसक्ति रहित और विषयों में कामना रहित अपने शरीर के प्रति भी निश्चिन्त, आशारहित आत्मज्ञानी सुशोभित होता हैं"

अविद्या की निवृत्ति पर आत्मज्ञानी की उपरोक्त स्थिति होती है जबकि जीवत्व जब तक शेष रहता है तब तक उसे इन सब से मोह लगा रहता है।

इस अविद्या से ही मूर्त-अमूर्त और उनकी वासना रूप वह संसार क्रिया कारक फल रूप होने से आत्मभाव से आरोपित होता है, तथा यही अविद्या कामादि दोषमय कर्मो का मूल भी है अविद्या के साथ सम्बन्ध होने के प्रतिक्रिया स्वरूप ही जीव को शरीर, इन्द्रिय आदि मिल जाते हैं तथा जीव देह और श्रवणादि इन्द्रिय आदि में मैं

---

1. **शांकरभाष्यकठोपनिषद -1/2/5**
2. **अष्टावक्रगीता - 18.84**

अभिमान रखने लगाता है। इन्द्रिय में ममाभिमान रहित पुरूष का 'मैं सुनता हूँ या मैं देखता हूँ इत्यादि लोक प्रसिद्ध व्यवहार नहीं रहेगा जैसे अंध पुरूष का मैं देखता हूँ ऐसा व्यवहार नहीं सुना गया - उसको इस प्रकार की अनुभूति होगी -

[1]क्वकर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियंस्फुरणं क्व वां।

क्व परोक्षं फलं वा क्वनिःस्वभावस्य मे सदा।।

"सदा स्वभाव रहित मेरा कर्ताभाव कहाँ? भोक्ता भाव कहाँ? अथवा निष्क्रिय होना अथवा स्फुरण कहाँ? अपरोक्ष ज्ञान कहाँ? अथवा फल कहाँ।"?

आत्मा में अनात्माबुद्धि का अध्यास ही जीवत्व का हेतु है बुद्धि आदि का आत्मा में स्वरूपाध्यास होने से उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मिथ्या प्रतीति होती है। अविद्या अनादि है उसका कार्य होने से अध्यास भी अनादि है।

(ii) जीव का परमसत्ता से सम्बन्ध

ब्रह्म और जीव (परमसत्ता) वस्तुतः एक है। जिस प्रकार अग्नि से निकली हुई विभिन्न चिन्गारियां अग्नि से अभिन्न हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। बल्लभ के अनुसार जीव ब्रह्म का विकार है परन्तु अष्टावक्र इस मत को नहीं मानते क्योंकि ब्रह्म अविकारी या अपरिणामी

---

1 अष्टावक्रगीता - 20.5

है। जीव न आत्मा से भिन्न है न आत्मा का अंश है, न आत्मा का विकार है बल्कि स्वतः आत्मा है।

[1]त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किन्चिल्धदि धारय।

आत्म त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि।।

"सर्वत्र ही मनन करना छोड़ दे हृदय में कुछ भी धारण मत कर तू आत्मा मुक्त ही है।"

यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि दो भिन्न वस्तुओं में तादात्म्यता नहीं सोची जा सकती।

जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद दीख पड़ता है वह सत्य नहीं है। दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है। दोनों का भेद व्यावहारिक है जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। अष्टावक्र अवच्छेदवाद सिद्धांत के द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध करते हैं जिस प्रकार एक ही आकाश जो सर्वव्यापी है, उपाधि भेद से घटाकाश रूप में परिलक्षित होता है उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी परमसत्ता अविद्या के कारण उपाधि भेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है जो लोग इस सिद्धांत से सहमत नहीं है उन्हें आत्मज्ञान कराने हेतु अष्टावक्र कहते हैं – जीव अपरिवर्तन शील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है। परमार्थिक रूप से यह जीव ब्रह्म ही है जो

---

1. अष्टावक्रगीता – 15.20

एकमात्र परमसत्ता है उसका जन्म लेना और मरना, कर्म करना और जानना सब अविद्या कल्पित है, अतएव मिथ्या है। शरीरादि की उपाधियों से परे अपने ब्रह्म स्वरूप को जानकर वह बन्धनों से सर्वदा के लिये विनिर्मुक्त हो जाता है।

सर्वव्यापी परमसत्ता शरीर, मन, बुद्धि के संघात में व्याप्त होकर उनसे स्वभावतः तादात्म्य कर लेता है। इससे बुद्धि में अहंकार की प्रतीति होती है, इस अवस्था में वह जीव कहलाता है।

[1]यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।

तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः।।

"जिस प्रकार निश्चय ही दर्पण के मध्य में स्थित रूप में देह भासता है उसी प्रकार इस शरीर में भीतर और बाहर परमेश्वर भासता है।"

इसी प्रकार आचार्य रज्जुसर्प, शुक्ति रजत तथा घटाकाश और महाकाश आदि उदाहरणों के माध्यम से जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध कर जीव के ब्रह्म स्वरूप होने को सिद्ध करते हैं तथा यह उद्घोष बार-बार करते हैं कि जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है, भेद मात्र उपाधिगत है।

प्रतिबम्बवाद और अवच्छेदवाद के प्रतिपादक आचार्य यद्यपि कि एक दूसरे के मतों का खंडन करने में अधिक रुचि रखते हैं। तथापि

---

1. अष्टावक्र गीता - 1-19

आचार्य अष्टावक्र किसी भी मत का खंडन या मंडन न कर दोनों के ही सत्य के अनुसंधान में सहायक होने के कारण दोनों ही मतों द्वारा अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं इसी प्रकार आभासवादी आचार्य इन दोनों ही मतों का खंडन करते हैं किन्तु आचार्य अष्टयवक्र उसकी उपयोगिता को देखते हुए उसके माध्यम से भी उस सत् तत्त्व की व्याख्या करते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य जीव को अपने सत् स्वरूप का किसी भी प्रकार से बोध करा देना है, और उस सत् स्वरूप के बोध के बाद उनका यह दृढ़ निश्चय है कि न तो किसी वाद की सत्ता शेष रहती है न विवाद की, न गुरु की और न शिष्य की, न अच्छे की, और न बुरे की, न श्रोता की और न वक्ता की, इसलिए वे इस प्रकार से कहते हैं -

[1]क्वप्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रयेयं क्व च प्रमाा।

क्व किञ्चित् क्व न किञ्विद्वा सर्वदा विमलस्य मे।।

"सर्वदा मेरे विमल के लिए, प्रमाता कहाँ? अथवा प्रमाण कहाँ" ?

प्रमेय कहाँ? और प्रमा कहाँ? कुछ भी कहाँ? अथवा कुछ भी नहीं कहाँ?"

इस प्रकार एक सत-चित्-आनंदस्वरूप ब्रह्म की ही सत्ता होती है और जीव जो कि ब्रह्म से अलग आभाषित होता है वस्तुतः ब्रह्म के

---

1. अष्टावक्रगीता - 20.8

स्वरूप का ज्ञान न होने से प्रतीत होता है क्योंकि जीव किसी भी प्रकार से ब्रह्म से अलग नही है न तो उसका अंश ही है, वरन वह ब्रह्म है और वही एक मात्र है, शेष कुछ भी नहीं।

(iii) जीव का जगत् से सम्बन्ध

अष्टावक्र गीता में एकमात्र निर्गुण, निर्विशेष एवं निरूपाधिक ब्रह्म ही परमार्थिक दृष्टि से सत्य है एवं त्रिकालाबाधित है। जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्मरूप ही है किन्तु इस संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर जगत् का रूवरूप क्या है? उसका मिथ्यात्व क्या है? तथा जीव के साथ उसका सम्बन्ध क्या है?

परिवर्तन या एक भाव से दूसरे भाव में जाना अर्थात पूर्वभाव का त्याग करके परभाव में संक्रमण होना ही संसार का स्वरूप है। नियम पूर्वक परिवर्तनशील होना या परिणमन भाव ही जगत् है, जो निरंतर उत्पत्यादि भाव विकार को प्राप्त होता है, उसे जगत् करते हैं। वेदान्त सिद्धांत के अनुसार मिथ्या का लक्षण इस प्रकार है 'सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्' अर्थात जो वस्तु सत् और असत् से विलक्षण या अनिवर्चनीय हो उसे मिथ्या कहते हैं। मिथ्या वह है जो कभी रहे और कभी न रहे यहॉ न रहने का अभिप्राय उसकी प्रतीति से हैं कल्पित पदार्थ मध्य में भासित होने पर भी आदि एवं अंत की तरह मध्य में भी अविद्यमान ही रहता है। अष्टावक्रगीता में प्रतीति रूप जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या को ही बताया गया है। किन्तु

ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता, क्योंकि यह तो केवल हमारे अपूर्ण ज्ञान के फलस्वरूप ऐसी प्रतीति होती है। सम्पूर्ण सांसारिक यथार्थ सत्ता अपने नामों व रूपों सहित जिसके लिये हम न तो सत् और न ही असत् की परिभाषा का प्रयोग कर सकते हैं जो अविद्या के ऊपर आश्रित है।

यह संसार रज्जु सर्प की भांति काल्पनिक है ब्रह्म की जीव रूपता का नानात्व अविद्या के कारण है अविद्या के निवृत्ति होते ही न तो जीव का जीवत्व रहता है न तो संसार का नानात्व अर्थात नाम रूपता। एकमात्र ब्रह्म ही रहता है। इसी को अष्टावक्र गीता में इस प्रकार से कहा गया हे ।

[1]यत्रविश्वमिदं भाँति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।

आनंद परमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर ।।

" जिस (विशुद्ध चेतना) में यह कल्पित संसार रज्जु में सर्प की भाँति भासता है, वह आनंद परमानंद बोध रूप तू है। सुख पूर्वक विचरण कर।"

(iv) जीव का कर्तृत्व - भोक्तृत्व

आचार्य आष्टावक्र के अनुसार त्रिकालाबाधित सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म ही माया के सम्पर्क में आने पर स्वरूप को भूल जाता है अर्थात जीव संज्ञा को प्राप्त करता है। जिसके फलस्वरूप तद्गत् सुख-दुखादि

---

1. अष्टावक्रगीता - 1.10

को स्वयंगत समझने लगता है। संसार में विभिन्न कर्मों को करने वाला और उन कर्म फलों को भोगने वाला भी जीव स्वयं को ही समझने लगता है। जबकि वास्तविक स्थिति इससे अत्यंत भिन्न है। जीवात्मा में स्वाभाविक कर्तव्य असम्भव है क्योंकि वस्तुतः तो वह शुद्ध ब्रह्म ही है।

[1]न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।

संघात विलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज।।

''तेरा किसी से संग नहीं है, तू शुद्ध है, क्या छोड़ना चाहता है? संघात विलय करते हुए इस प्रकार ही लय को प्राप्त हो।''

उपर्युक्त को ही इस प्रकार से भी कहा गया है।

[2]न स्वाभाविकं कर्तव्यमात्मानं संभवति, अनिर्मोक्ष।

मोक्ष पर्यन्त जीव इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करता है। कठोपनिषद में शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त जीव को ही भोक्ता कहा गया है। आचार्य अष्टावक्र जीवात्मा को ही कर्ता मानते हैं, क्योंकि जीवत्व रहित आत्मा तो साक्षात ब्रह्म है और वह परम निष्क्रिय है

[3]क्व विक्षेपः क्व चैकाग्रयं क्व निर्बोधः क्व मूढ़ता।

---

1. अष्टावक्रगीता – 5.1
2. शांकरभाष्य – 2/1/13
3. अष्टावक्रगीता – 20.9

क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य।।

"सर्वदा निष्क्रिय मेरे लिए विक्षेप कहाँ? एकाग्रता कहाँ? निर्बोध कहाँ, अथवा हर्ष कहाँ? विषाद कहाँ? अर्थात आत्म इस सब चीजों से सर्वदा मुक्त है।

जीवात्मा को कर्ता मानने से ही शास्त्रों की सार्थकता सिद्ध होती है। अग्नि में उष्णता के सदृश आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व तो असम्भव है अन्यथा जीव के मोक्ष प्राप्ति की सम्भावना समाप्त हो जायेगी। कर्तृत्व और भोक्तृत्व अविद्या से प्रत्युपस्थापित हैं अतएव दुःख रूप है। जीवात्मा इस द्वैत प्रपंच से सम्बद्ध होकर स्पप्न और जागृति अवस्थाओं में भ्रमण करता हुआ अत्यन्त थक जाता है तब उस श्रम को दूर करने के लिये कुछ समय के लिये सुषुप्ति अवस्था में पहुँचकर करण संघात से मुक्त हो जाता है तथा जागने पर उस सुख का अनुभव करता है। यह तो क्षणिक सुख ही होता है परंतु अविद्या नष्ट होने पर सदा सर्वदा के लिये जीव सुखरूप हो जाता है। यह तो रही सुषुप्ति के क्षणिक सुख की स्थिति किन्तु जब जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है इसका विवेचन अष्टावक्र गीता में इस प्रकार से मिलता है।

[1]क्व स्वप्नः क्व सुषुप्ति क्व च जागरणं तथा।

क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

---

1. अष्टावक्रगीता- 19.5

"अपनी महिमा में स्थित मेरा स्वप्न कहाँ अथवा सुषुप्ति कहाँ, तथा जागरण कहाँ और तुरीय कहाँ, अथवा भय भी कहाँ?"

जीव अविद्या के वशीभूत होकर ही कर्मो के करने वाला तथा स्वयं उनके फलों को भोगने वाला हो जाता है तथा फलोपभोग के निमित्त ही बारम्बार उसे इस संसार में आकर जन्म-मरण रूप कष्ट को भी भोगना पड़ता है तथा नाना प्रकार के शरीरों की प्राप्ति उसे होती है।

शरीर-इन्द्रिय रूप उपाधि से परिछिन्न मोक्ष के निमित्त प्रयत्न करने वाला कर्मफल को भोगने के लिये जन्म-मरण रूप चक्र में बारम्बार आने वाले आत्मा को 'रथी' शब्द से भी अभिहित किया गया है।

[1]"तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं

रथ स्वामिनविद्धि।"

असंयत और अनियंत्रित बुद्धि से युक्त जीवों को बारम्बार विविध योनियों में जन्म मिलता है।

ब्रह्म ही बुद्धयादि उपाधियों के सम्पर्क में आकर उनमें अभिमान रखता हुआ 'कर्ता-भोक्ता' जीव कहलाता है। यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व सत्त्व और क्षेत्रज्ञ के परस्पर स्वभाव के अविवेक से ही कल्पित है। समस्त

---

1. शांकरभाष्यकठोपनिषद 1.3.3

जगत् जीव के द्वारा ही उत्पन्न किया गया है। अतः प्रत्येक जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार सारे जगत् का भोक्ता और भोग्य है।

जीव संसार में जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार उसको फल भी मिलता है । भोक्ता जीव अज्ञान वश किये गये कर्मो के भार से लदा हुआ संसार चक्र में आत्म साक्षात्कार पर्यन्त भ्रमण करता रहता है। वह अपने शरीर तथा इन्द्रियों के प्रति आत्मभाव रखता है तथा बंधु बांधवों के प्रति ममभाव रखता है जिससे शोक संतप्त रहता है।

अद्वैत वेदान्तियों ने जीव की स्वप्न, जागृति और सुषुप्ता इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है तथा चतुर्थ तुरीय अवस्था में जीव के समस्त जगत् व्यवहार समाप्त हो जाने की बात स्वीकार की है। किन्तु आचार्य अष्टावक्र अपने स्वरूप में स्थित आत्मा की अवस्था इन चारों अवस्थाओं से ऊपर मानते हैं क्योंकि तुरीय अवस्था भी एक अवस्था विशेष में जीव को स्थित करती है किन्तु आत्म साक्षात्कार के बाद 'जीव' साक्षात 'ब्रह्म' हो जाता है तथा वह किसी भी अवस्था विशेष में स्थित न होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है।

(v) जीव का बन्धन :

जीव का स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीनों शरीरों के साथ सम्बन्ध होना ही उसका बन्धन कहलाता है। इसके विपरीत इन तीनों के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाना ही जीव का मोक्ष कहलाता है, जो कि संसार से जीव का सम्पर्क एकदम से तोड़कर उसे शुद्ध, बुद्ध,

मुक्त और नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का बोध कराता है। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा कौन सा कारण है जो जीव को इतने बड़े सांसारिक बंधन में बांधता है। तथा शरीर युक्त करके उसे संसार चक्र में फंसने के लिये विवश कर देता है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जीव के बंधन का मूल कारण स्वयं उसका अज्ञान है स्वरूप की विस्मृति ही अज्ञान या अविद्या है, जो उसे सांसारिकता में भटका देती है। यद्यपि जीव ब्रह्म से अनन्य है, फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म से भिन्न कहा जाता है।

यह अविद्या किस प्रकार उत्पन्न हुई होगी? क्योंकि लोक में देखा जाता है कि किसी भी वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है इसलिए अविद्या का भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। परन्तु आचार्य की उपदेश शैली से ज्ञात होता है कि अज्ञान या अविद्या का कोई कारण नहीं होता क्योंकि वह अनादि है। उसकी निवृत्ति अवश्य सम्भव है। जब तक अज्ञान की निवृत्ति नही होगी, तब तक यह जीव, मन, वाणी और शरीर के दृष्ट, अदृष्ट और अनिष्ट के साधन भूत अधर्म संज्ञक कर्मों को करता रहता है, जिससे उसकी बद्ध रूपता बनी रहती है। अज्ञान ही संसारोत्पत्ति का कारण बनता है अर्थात अज्ञान या भ्रान्ति से ही जीव संसरण को प्राप्त होता है। तथा यही जीव की बद्ध रूपता है। यथार्थतः तो जीव का बंधन है किन्तु परमार्थतः वह ब्रह्म है तथा किसी भी प्रकार का उसका बंधन या मुक्ति नहीं है।

(vi) **निष्कर्ष** –

आत्मा की परमार्थिक सत्ता है, पर जीव की व्यावहारिक सत्ता है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से आवृत हो जाता है तब जीव कहलाता है। आचार्य अष्टावक्र ने आत्मा को मुक्त माना है, परन्तु जीव इसके विपरीत बंधनग्रस्त है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश आदि में दीख पड़ता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा, शरीर और मनस् उपाधियों के कारण अनेक दीख पड़ती है।

जब आत्मा का – अज्ञान के वशीभूत होकर– बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नही होगा, वह अपने को देहादि से भिन्न नहीं समझ सकता, इसीलिए आचार्य ने जीव के स्वरूप बोध हेतु ज्ञान का उपदेश किया है।

पंचम् अध्याय

सृष्टि की अवधारणा

(i) सृष्टि (जगत्) का स्वरूपः

यदि सारी दार्शनिक प्रक्रिया को संक्षिप्त कर दें तो वह दो प्रश्नों में सिमट जाती है और वे दो प्रश्न हैं – क्या इस व्यक्त जगत से अतीत, इससे अतिरिक्त कुछ ऐसा भी है जो अव्यक्त है? और यदि है तो इस व्यक्त और उस अव्यक्त का परस्पर सम्बन्ध क्या है? ये वे दो प्रश्न हैं जिनका उत्तर सभी दार्शनिक अपनी – अपनी ओर से देने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्त और अव्यक्त के सम्बनधों का विश्लेषण सभी दार्शनिक मतवादों का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है। देखा जाय तो सत्य की गवेषणा में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका अव्यक्त की है उतनी ही व्यक्त की भी है। यह व्यक्त ही तत्त्व जिज्ञासा का प्रेरक है। व्यक्त अव्यक्त की ओर से एक संकेत है तथा अपने मूंल सत्य के रूप में किसी अतीन्द्रिय चेतन की ओर इंगित करते हुए आध्यात्मिक गवेषणाओं को गति और दिशा देता है। इस व्यक्त के आधार और स्पष्टीकरण के रूप में हमें अव्यक्त का साक्षात्कार होता है। यहाँ व्यक्त और अव्यक्त का परिचय भी आवश्यक है। व्यक्त का अर्थ है यह समस्त इन्द्रियगोचर जगत तथा इसके अंतर्गत आने वाला वह पदार्थ–संघात जिसके द्वारा समस्त व्यवहार होता है। भोग्य संघात के अतिरिक्त भोक्ता जीवात्मा भी सृष्टि से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, इतना और इस तरह कि वह भी सृष्टि का ही एक भाग प्रतीत होता है यद्यपि अपने मौलिक स्वरूप में वह भोग्य जगत से नितान्त भिन्न है। इस

प्रकार व्यक्त की स्वरूप सीमा में भोक्ता और भोग्य दोनों ही आते हैं इस व्यक्त सृष्टि के मूल भूत सत्य और आधार भूमि के रूप में जिस अतीन्द्रिय चेतन सत्ता की परिभावना की जाती है, वह स्थूल इन्द्रियों की सीमाओं से परे होने के कारण अव्यक्त कहलाती है अष्टावक्र गीता में इस सत्ता को ब्रह्म या आत्मा नाम से संबोधित किया गया है –

[1]यथा प्रकाशयाम्ये को देहमेनं तथा जगत।

अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन।।

"जैसे इस देह को अकेला मैं प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूँ, इसीलिए तो मेरा सम्पूर्ण संसार है अथवा कुछ भी नहीं।"

आत्मज्ञानी जानता है कि वह देह नहीं है आत्मा है जिस प्रकार आत्मा जड़ देह को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार परमात्मा सम्पूर्ण जड़ जगत को प्रकाशित करता है – जिसे देह के परिप्रेक्ष्य में आत्मा कहते हैं उसे जगत के परिप्रेक्ष्य में परमात्मा कहते हैं।

अज्ञानी मनुष्य स्थूल देह को अपना स्वरूप मानता है तथा ज्ञानी पुरुष चैतन्य आत्मा को अपना यथार्थ स्वरूप मानता है। आत्मज्ञानी जानता है कि स्थूल शरीर एवं जड़ जगत स्वप्न वह मिथ्या है तथा चैतन्य आत्मा से भिन्न है। यह जगत नाम रूपात्मक है तथा

---

1. अष्टावक्रगीता 2.2

नाम और रूप मिथ्या होते हैं नाम और रूप के पृष्ठ में एक ही चैतन्य स्वरूप परब्रह्म की सत्ता है।

[1]सशरीर महो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना।

कुतश्चित्कौशलादेव. परमात्मा विलोक्यते।।

"आश्चर्य है कि शरीर सहित विश्व को त्यागकर किसी कुशलता से ही अब मैं परमात्मा को देखता हूँ।"

[2]वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

"सब कुछ परमात्मा ही है तथा उससे भिन्न कुछ भी नहीं है ऐसा अनुभव करने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है"

सत्य का ज्ञान होने से असत्य स्वयं छूट जाता है अंधकार के निवृत्त होने पर प्रकाश का, क्लेश के निवृत्त होने पर आनंद का, तथा अज्ञान के निवृत्त होने पर ज्ञान का अनुभव आश्वर्यमय होता है। यह आंतरिक जागरण हैं। आत्मा तो मुक्त ही है उसे मुक्त नहीं किया जाता है। गुरू की कृपा से अज्ञान रूपी आवरण के दूर हो जाने का अनुभव वर्णनातीत होता है। अज्ञान का आवरण दूर हो जाने से भ्रम और भय छूट जाता है। इस प्रकार जगत भ्रम मात्र है सर्वत्र एक ब्रह्म की ही सत्ता है।

---

1. अष्टावक्रगीता 2.3
2. श्रीमद्भगवद्गीता 7.19

[1]यथा न तोयतोभिन्नास्तरङ्गाः फेनबुदबुदाः।

आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।।

"जिस प्रकार जल से तरंङ्ग, फेन और बुदबुद भिन्न नहीं होते उसी प्रकार आत्मा (परमात्मा) से उत्पन्न विश्व, आत्मा से भिन्न नहीं होता"।

यह जगत परमात्मा से भिन्न नहीं है। नदी अथवा समुद्र में तरंग, फेन, और बुदबुद उसके जल से भिन्न नहीं होते तथा वे जल से उत्पन्न होकर जल में ही विलीन होते रहते हैं। अंशी और अंश अभिन्न अथवा एक ही होते हैं।

घट के निर्माण में कुम्भकार घट का निमित्तकारण तथा मिट्टी उसका उपादान कारण होती है। किन्तु जंगत् के निर्माण में परमात्मा जगत् का निमित्तकारण एवं उपादान कारण दोनों ही है। यह जगत परमात्मा से भिन्न नहीं है। जगत में पदार्थो के नाम और रूप भिन्न होते है, किन्तु नाम और रूप के पृष्ठ में सर्वत्र एक ही आत्म तत्व विद्यमान होता है। नाम और रूप के हट जाने पर एक परमात्मा का अस्तित्व ही शेष रहता है। जगत के नानात्व के पृष्ठ में एकत्व को देखना ज्ञान है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.4

वास्तव में जैसे सर्प रज्जु से भिन्न नहीं है तथा सर्प रज्जु में ही अधिष्ठित है वैसे ही यह जगत् परमात्मा में अधिष्ठित है। परमात्मा सत् है, जगत असत है।

स्थूल दृष्टि से हमें देखने पर पट तंतुओं से भिन्न बना प्रतीत होता है किन्तु विचार करने पर पट और तंतुओं में अभेद होता है तंतु के बिना पट की कल्पना नहीं की जा सकती तन्तु पट का उपादान कारण है।

इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से देखने पर यह जगत् परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु विचार करने पर जगत् और परमात्मा में अभेद होता है। परमात्मा के बिना जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती है।

परमात्मा जगत् का निमित्तकारण एवं उपादान कारण दोनों है।

जगत् के पदार्थों में नाम और रूप का भेद होता है, किन्तु नाम और रूप का भेद हटा देने से सर्वत्र एक परमात्मा का ही अस्तित्व रहता है। जगत् असत है तथा परमात्मा सत् है। यह जगत चैतन्य स्वरूप परमात्मा में अधिष्ठित है।

जो वस्तु जिस उपादान से निकलती है, उसी में लय को प्राप्त होती है गन्ने में मिठास है, वह मिठास ही चीनी का रूप ले

लेती है। गुड़, शक्कर, चीनी, मिश्री, सब उस मिठास से ही निर्मित हैं। विश्व में जितनी भी मिठाइयाँ बनती है सब मिठास से ही निर्मित है जिस वस्तु में मिठास नहीं है उसे मिठाई नहीं कहा जा सकता इसी प्रकार नमक के बिना नमकीन नहीं बन सकती, जितनी भी नमकीन वस्तुएं बनती है, सब नमक से व्याप्त होती हैं इस लिए ईख से निकली शर्करा ईख के रस से ही व्याप्त है वह उससे भिन्न नहीं हो सकती। वैसे ही यह संसार आत्मा से उत्पन्न हुआ है इसलिए आत्मा से ही व्याप्त है उससे भिन्न नहीं हो सकता।

आत्मा और परमात्मा में अभिन्नता होने के कारण जहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ परमात्मा भी है। परमात्मा से ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है। वही विश्व रूप में व्यक्त है। सर्गारम्भ से पूर्व परब्रह्म् परमात्मा विचार करता है कि "मैं एक से बहुत हो जाऊँ"।

"एकोऽहं बहुस्यामः"

और तब वही अनंत रूप हो जाता है विश्व रूप हो जाता है। इस प्रकार विश्व उसी से व्याप्त है आत्मा ही विश्व की व्याप्ति का कारण हे, इसीलिए विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है विश्व यथार्थ में विश्व नहीं आत्मा ही है। इसमें जो भिन्नता की प्रतीति होती है, वह तभी तक होती है, जब तक आत्मज्ञान नहीं होता आत्मज्ञान होने पर विश्व में आत्म दर्शन ही होते हैं।

सम्भवतः "वास्तविकता" एक बच्चे के समान है जो भ्रान्ति रूप दाई के बिना रह नहीं सकता।

भौतिकी में अपने परिचित जीवन के नाटक के छाया रेखांकनों के प्रदर्शन का निरीक्षण करते हैं। भौतिक. जगत् का चित्र हर दशक में बदल जाता है। इन सब बातों को देखते हुए 'अष्टावक्रगीता' की दृष्टि का महत्व बढ़ जाता है। जगत की व्यवहारिक वास्तविकता उत्तरदायित्व की गम्भीरता पर बल देती है। यही व्यक्ति जीवन में आत्मशुद्धि का मार्ग है तो सामाजिक जीवन में लोक कल्याण का मार्ग है – इस दृष्टि से आचार्य अष्टावक्र कोई स्वप्न जगत में विचरण करने वाले कोरे कल्पनावादी नहीं हैं व्यक्तिगत दृष्टि से वे परमशान्ति के मार्ग के निर्देशक थे तो समाज की दृष्टि से वे परमशांति के मार्ग के व्यापक सहिष्णुता के पोषक के रूप में एक सामाजिक आदर्श वादी थे। अष्टावक्र गीता में उन्होंने नानात्व को एकत्व का भ्रान्त रूप बनाकर व्यष्टि को समष्टि के विस्तार में फैलाकर उसे 'सर्वजनहिताय' में लगाना चाहते थे, तो अपने दूसरे कदम में उन्होंने समष्टि को भौतिकता से ऊपर आध्यात्मिकता के उच्चतम यथार्थ तक पहुँचा दिया। इस प्रकार अष्टावक्र गीता में व्यष्टि का समष्टि से अभेद तथा व्यष्टि – समष्टि दोनों का विलय परमार्थ– अद्वैत में स्थापित कर परम् कल्याणकारी जगत् का निरूपण किया गया है। इस पर कल्याणकारी उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को जीवन से भागना नहीं है वरन अपने जीवन को और व्यवस्थित करके अपने ही स्वरूप को पहचानना

है। अष्टावक्र गीता व्यवहार का उच्छेद नहीं अपितु अधिक सुसम्बद्ध व्यावहारिकता का उपदेश है। यह जगत् के प्रति उपेक्षा की दृष्टि नहीं अपितु विशुद्ध सतर्कता की अनुभवपूर्ण दृष्टि है।

आचार्य अष्टावक्र परमार्थतः विश्व को परमसत्ता से व्याप्त मानते हैं तथा यह उपदेश देते हैं कि यह विश्व उस परमसत्ता से सर्वत्र ओत–प्रोत है उसके अलावा अन्य कुछ भी नहीं है –

[1]त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्ध बुद्ध स्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम।।

"यह विश्व तेरे से व्याप्त है, तुझमें प्रोत है, तू यथार्थ में शुद्ध–बुद्ध स्वरूप है, क्षुद्र चित्त वृत्ति को प्राप्त मत हो।"

इस प्रकार यह विश्व परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्मरूप है इसकी सिद्धि में आचार्य विभिन्न सिद्धान्तों से उद्धरण देते हैं – अष्टावक्र इस जगत को ब्रह्म का विवर्त मानते है – जो प्रमुख सिद्धान्त वे अपने बात की पुष्टि हेतु देते हैं वे इस प्रकार से हैं–

प्रतिबिम्बवाद–

[2]यथैवादर्श मध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिन्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः।।

---

1. अष्टावक्रगीता – 1.16.
2. अष्टावक्रगीता – 1.19.

"जिस प्रकार निश्चय ही दर्पण के मध्य में स्थिति रूप में देह भासता है, उसी प्रकार ही इस शरीर में भीतर और बाहर परमेश्वर भासता है।"

दर्पण में व्यक्ति अथवा वस्तु का प्रतिबिम्ब असत् होता है। प्रतिबिम्ब दर्पण पर अध्यस्त होता है तथा सत्य नहीं होता। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब के भीतर और बाहर दर्पण ही होता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर, बाहर सारे जगत में आत्मा ही होता है, जिस प्रकार दर्पण में देह का प्रतिबिम्ब भास रहा है और प्रतिबिम्ब के चारों ओर दर्पण ही है। उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) में यह सारा जगत भास रहा है और जगत में सर्वत्र ब्रह्म् ही है। तथा वही सत् है। असत् पदार्थ की अपने अधिष्ठान से भिन्न अपनी कोई सत्ता नहीं होती। प्रतिबिम्ब का अस्तित्व दर्पण पर आश्रित है, दर्पण न होने पर प्रतिबिम्ब नहीं रह सकता। इसी प्रकार आचार्य <u>अवच्छेदवाद</u> के माध्यम से जगत की ब्रह्म् मयता सिद्ध करते हैं।

अवच्छेदवादः

[1]एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म् सर्व भूत गणे यथा।।

"जिस प्रकार सर्वगत एक आकाश घट में बाहर-भीतर स्थित है, उसी प्रकार नित्य-निरंतर ब्रह्म् सब भूतों में स्थित होता है।"

---

1. **अष्टावक्रगीता – 1.20.**

विश्व में परब्रह्म् की यथार्थ सत्ता है परब्रह्म् परमात्मा सत् है तथा शेष सब असत् है। जिस प्रकार एक ही आकाश घटों के भीतर और बाहर स्थित होता है, उसी प्रकार सब प्राणियों और पदार्थों के भीतर और बाहर एक ही परमात्मा स्थित है। घटों में भिन्नता होने पर भी उनके भीतर आत्म तत्व की एकता है प्राणियों के जीवन का स्रोत उनके भीतर स्थित नित्य निरंतर आत्मा ही है।

आत्मा सत् एवं चैतन्यस्वरूप है तथा सम्पूर्ण जगत के बाहर भीतर और मध्य में व्याप्त है।

इसी प्रकार आचार्य ने विवर्तवाद के तीनों उद्धरणों द्वारा जगत की ब्रह्ममयता की सिद्धि की है।

विवर्तवादः

[1]अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्य करे यथा।

"आश्चर्य है कल्पित विश्व अज्ञान के कारण मुझमें ऐसे भासता है जैसे शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, सूर्य की किरण में जल भासता है।"

आचार्य ने यहाँ पर विवर्तवाद के तीनों उद्धरणों सुक्ति रजत, रज्जुसर्प और सूर्य की किरण में जल के द्वारा जगत के

---

1. **अष्टावक्रगीता – 2.9**

परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्ममय होने की पुष्टि की है। आचार्य ने अष्टावक्र गीता के अध्याय 2/7, 5/3 में भी रज्जु सर्प के उद्धरण द्वारा जगत की ब्रह्म् रूपता की सिद्धि की है इसी प्रकार आचार्य तंतु-पट, और ईख के रस में व्याप्त मिठास के उद्धरण द्वारा सर्वत्र ब्रह्म् के व्याप्त होने की पुष्टि करते हैं। जिससे जगत के ब्रह्म् का विवर्त होने की सिद्धि होती है।

[1]तन्तुमात्रो भवे देव पटो यद्वद्वि चारितः।
आत्म तन्मात्र मेवेदं त द्वद्विश्वं विचारितं।।

"जिस प्रकार पट विचार करने पर तंतुमात्र ही होता है। उसी प्रकार यह विश्व विचार करने पर आत्म सत्ता मात्र है।"

स्थूल दृष्टि से देखने पर पट तंतुओ से भिन्न प्रतीत है किन्तु विचार करने पर पट और तंतुओं में अभेद होता है। तंतु के बिना पट की कल्पना नहीं की जा सकती। तंतु पट का उपादान कारण होते हैं। इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से देखने पर यह जगत् परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है किन्तु विचार करने पर जगत् और परमात्मा में अभेद होता है। परमात्मा के बिना जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती परमात्मा जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है। जगत् के पदार्थों में नाम रूप का भेद होता है। किन्तु नाम और रूप का

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.5

भेद हटा देने पर सर्वत्र एक परमात्मा का ही अस्तित्व रहता है। जगत् असत् है तथा परमात्मा सत् है। यह जगत् चैतन्य स्वरूप परमात्मा में अधिष्ठित है।

[1]यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा.।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरंतरम्।।

"जिस प्रकार ईक्षु के रस से उत्पन्न शर्करा उस रस से व्याप्त ही है, उसी प्रकार मुझमें उत्पन्न विश्व मेरे द्वारा निरंतर व्याप्त है।"

परब्रह्म् परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है तथा समस्त विश्व में ओत-प्रोत है। जिस प्रकार इक्षु के रस से उत्पन्न शर्करा रस से ही व्याप्त होती है, उसी प्रकार परमात्मा में अध्यस्त विश्व परमात्मा से ही निरंतर व्याप्त है शर्करा और रस में अभेद है। शर्करा रस ही है। विश्व और परमात्मा में अभेद है, विश्व परमात्मा ही है। रस के बिना शर्करा का अस्तित्व नहीं है परमात्मा के बिना विश्व का अस्तित्व नहीं है तात्त्विक दृष्टि से दोनों अभिन्न ही हैं।

इसी प्रकार आचार्य ने संसार को तरंग तथा ब्रह्म को महासागर के समान बताया है जिससे विवर्तवाद की पुष्टि के साथ ही जगत के ब्रह्मरूप होने की पुष्टि होती है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.6

[1]त्वय्यनंत महाम्भोधौ विश्व वीचिः स्वभावतः।

उदेतु वास्तमायातुं न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः।।

"तुझ अनंत महासागर में विश्वरूप तरङ्ग स्वतः आ जाय अथवा अस्त हो जाय, तेरी न वृद्धि, न क्षति।"

विश्व का अधिष्ठान चैतन्यस्वरूप आत्मा होता है तथा अधिष्ठान कल्पित वस्तु से प्रभावित नहीं होता। तात्त्विक दृष्टि से व्यावहारिक विश्व की सत्ता या स्वरूप मात्र एक मिथ्या कल्पना ही है। मन एवं अहंकार के स्तर पर व्यावहारिक जगत की सत्ता है, किन्तु शुद्ध चेतना के स्तर पर चैतन्य स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है।

आचार्य व्यावहारिक जगत को मिथ्या बताते हुए उसे इस प्रकार से परिभाषित करते हैं -

[2]नानाश्चर्य मिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।

निर्वासनः स्फूर्ति मात्रों न किन्विदिव शाम्यति।।

" यह विश्व अनेक आश्चर्यो वाला है और यह कुछ नहीं है - (मिथ्या) वासनारहित, शुद्ध चेतना स्वरूप, (तथा) मानों अन्य कुछ भी नहीं है (ऐसा मानने वाला) शान्त हो जाता है।"

---

1. अष्टावक्रगीता - 15.11
2. अष्टावक्रगीता - 11.8

विविध प्रकार के आश्चर्यों से परिपूर्ण यह व्यावहारिक जगत् वास्तव में मिथ्या है तथा यथार्थ में कुछ भी नहीं है। आत्म स्वरूपता का अनुभव करने वाला महापुरूष देह सहित होकर भी विदेह होता है तथा व्यावहारिक जगत् के नानात्व को देखते हुए भी अनुभव करता है कि आत्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है वह और यह नामरूपात्मक जगत ब्रह्म् ही है।

आचार्य इस व्यावहारिक जगत् को भावना अथवा संकल्प मात्र मानते हैं जिसका उपदेश वे इस प्रकार से करते हैं।

[1]भवोऽयं भावनामात्रों न किन्चित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावनां भावाभावविभाविनाम्।।

"यह संसार संकल्प मात्र है, परमार्थ में कुछ नहीं है, क्योंकि भाव-अभाव के स्वभावों का अभाव नहीं है।"

यह संसार जो व्यवहार में दृष्टिगोचर हो रहा है सत्य नहीं है इसका परमार्थिक दृष्टि से अस्तित्व नहीं है। यह मन का मात्र प्रक्षेपण है। संसार मात्र संकल्प है ब्रह्म् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का भाव नहीं है। संसार अभावरूप है। संसार का अभाव है अर्थात उसका अस्तित्व नहीं है। भावरूप और अभावरूप में स्थित स्वभाव सदैव बना रहता है अर्थात उसका पूर्ण अभाव कदापि नहीं होता। भाव

---

1. अष्टावक्रगीता - 18.4

सदैव भाव रहता है तथा अभाव का अभाव रहता है। जिस प्रकार स्वप्न में स्वप्न के पदार्थ मात्र संकल्प होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत के पदार्थ भी मात्र संकल्प ही होते हैं। संकल्पों का नाश होना जीव-मुक्ति का लक्षण है। जिस प्रकार सर्प रज्जु में आरोपित है, उसी प्रकार संसार माया के द्वारा आत्मा पर मात्र आरोपित अर्थात मिथ्या है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। संसार में पदार्थों के नाम और रूप हैं तथा नाम और रूप के पृष्ठ में एक आत्मा ही सत् है। नाम और रूप से परे सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन करना ज्ञान है। आत्मा परिवर्तन रहित स्थिर और सत्य है। संसार और इसके सुख दुःख मिथ्या है।

(ii) सृष्टि का कारण–अज्ञान :

यह जगत ब्रह्म् से अलग कोई सत्य नहीं है अपितु यह इसी रूप में ब्रह्म् से उद्भूत ही है ब्रह्म् विवर्तवाद या ब्रह्म् परिणाम वाद उसे जो भी कहें वास्तविकता दोनों की एकता तथा जगत की ब्रह्म् मूलता में है। अनुभव के समक्ष तार्किक असंगतियों की सम्भाव्यता कोई मायने नहीं रखती अष्टावक्र भी जगत् को ज्यो का त्यो सत्य नहीं मानते इसके लिए वे विवर्तवाद की स्थापना करते हैं तथा इसीलिए जगत् को भ्रान्ति के स्तर पर रखकर परमार्थ दृष्टि पर आरोपित व्यावहारिक दृष्टि का विवर्त मानते हैं।

[1]अहं स शुक्ति सङ्क.शो रूप्यवद्विश्व कल्पना।

इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।

"वह मैं शुक्ति के तुल्य हूँ। विश्व की भ्रान्ति रजत की भाँति है, यह ज्ञान है तथा इसका न त्याग है, न ग्रहण, न लय है।"

अष्टावक्र इसे मात्र मानसिक कल्पना नहीं मानते, बल्कि मनोकामना या भ्रानित को भी अधिष्ठान से रहित स्वीकार नहीं करते जैसा कि पंचदशी में भी कहा गया है।

[2]कुन्नेति ? निरधिष्ठानों न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते।

इसे वे जीव की सीमित बुद्धि की विकल्पना मानते हैं। ब्रह्म का जगत्भाव अपने स्वरूप में सम्भव नहीं है इसलिए जगत्सृष्टि के लिए मायोपहित होना आवश्यक है फिर वही माया या अविद्या ही वेद्य-वेदित, वेदना आदि भेंदों को जन्म देती है। अविद्या कल्पित संसारत्व के निवृत्त हो जाने पर सारे भेद का अभेद तथा अद्वैत में लय हो जाता है वस्तुतः यह लय होना कोई कार्य नहीं है अपितु स्वाभाविक स्थिति ही है जिसका कल्पित तिरोधान हुआ रहता है।

सृष्टि की अपनी कल्पित कहानी से माया जगत की सापेक्षता ब्रह्म् से निर्धारित करती है। जगत् में सत्त्व, चैतन्य तथा

---

1. अष्टावक्रगीता - 6.3
2. पंचदशी (2-35)

आनंद इनका अनुवर्तन अष्टावक्रगीता में माना गया है जो ब्रह्म् का ही स्वभाव है तथा नामरूप से उपहित अशुद्धियाँ जिनके कारण यत्र-तत्र चैतन्य की अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं होती ये सब ही माया के कारण हैं।

[1]"भ्रांति मात्रमिदं विश्वं न किन्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रों न किन्चिदिव शाम्यति।।"

"यह विश्व भ्रान्ति मात्र है, कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय करने वाला मनुष्य वासना रहित, स्फूर्ति मात्र होकर शान्त हो जाता है मानों कुछ भी नहीं है।

जगत प्रतीयमान रूप में न वस्तु है न वास्तविकता। यह वास्तविकता का परिणाम नही है, परंतु आभास रूप में यह वास्तविकता पर ही प्रतिष्ठित है।

अष्टावक्रगीता में वस्तु (ब्रह्म्) केवल एक है तथा वह है कूटस्थ नित्य। यही कारण है कि जगत् की ब्रह्म् भिन्न तत्व के रूप में दूसरी वास्तविकता संकट में पड़ जाती है परंतु इस जगत् की पृष्ठ भूमि में और हो ही क्या सकता है? कूटस्थ नित्य के विभिन्न पहलू होना यह बात समझ में नहीं आती बशर्ते भ्रान्ति की अवधारणा को स्थापित न किया जाय जगत् की उत्पत्ति तथा विलय बिना माया के प्रत्यय के परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। हमारे अनुभव में यथार्थ सत्ता का आभास मात्र आता है।"

---

1. अष्टावक्रगीता - 15.17

[1]"एकत्व की नानात्व के रूप में प्रतीति हमारी दृष्टि का मौलिक दोष है इसी असद्भास के हम इतने आदी हो गये हैं कि हमारी तार्किक कुशलता हमें जगत् की ओर ही ले जाती है जो हमारे तथा यथार्थ सत्ता के बीच एक मध्यस्थ बना है। तथा हम अद्वैत की अपरोक्षानुभूति से वंचित हैं।"

परमार्थ की दृष्टि से सत्य के आभास होने के कारण ही जगत् के नानात्व को माया बताया गया है। अंतरानुभूति तथा आत्मबुद्धि के माध्यम से आत्मा के उस अखंड साम्राज्य तक पहुँचा जा सकता है जो कालहीन, दिक्-हीन तथा परिवर्तन हीन है। इसी दृष्टि से देश, काल तथा निमित्त की अवधारणायें अज्ञान परक हैं तथा यह ब्रह्मरूप-अधिष्ठान पर विकल्पित हैं। जगत् का सारा व्यवहार, ब्रह्म् का ही विवर्त है।

[2]प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्त मेव मेव लयं ब्रज।।

"व्यक्त विश्व प्रत्यक्ष होता हुआ भी मिथ्या होने के कारण तुझ निर्मल में, रज्जु में सर्पकी भाँति, स्थित नहीं है, इसी प्रकार तू लय को प्राप्त कर।"

---

1. भारतीय दर्शन भाग-2-डॉ0 राधाकृष्णन पृ0 516

2. अष्टावक्रगीता - 5.3

यह विवर्त सत्ता का विपर्यास ही है। यथार्थ सत्ता पर इस विवर्त का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जगत् का महत्व सत्ता के लिए नहीं अपितु हम अज्ञानोपहित चैतन्याभासों के लिए है। हम इसकी व्याख्या भी अपने स्तर पर संतोष जनक रूप से नहीं कर सकते। माया इसी विवशता तथा सीमितता को संकेतित करती है। वस्तुतः यह जगत् ब्रह्मात्मक ही है इस सन्दर्भ में आचार्य अष्टावक्र इस प्रकार से कहते हैं –

[1]उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मान मेव मेव लयं व्रज।।

"समुद्र से बुदबुद की भाँति तुझसे विश्व उदित होता है इस प्रकार आत्मा को 'एक' जानकर, इसी प्रकार ही लय को प्राप्त कर।"

जिस प्रकार समुद्र की लहरें, बुलबुले तथा धारायें व्यवहार भिन्न होने पर भी – समुद्र ही हैं। उसी प्रकार जगत् भी व्यवहार रूप में भिन्न होने पर भी वस्तुतः ब्रह्म् ही है।

अष्टावक्रगीता में अज्ञान ही जगत् की प्रतीति का कारण है अर्थात इस नामरूपात्मक जगत् के आभासित होने का कारण अज्ञान है अज्ञान के कारण ही जीव इस जगत् के कर्मबंधन में फंसकर सुख

---

1. अष्टावक्रगीता – 5.2

दुःख का भागी बनता है और जन्म-मृत्यु के पाश में बंधकर जन्मों-जन्मों तक कर्मफल भोगता रहता है यद्यपि कि जगत् में एक मात्र अविनाशी अद्वय ब्रह्म् की सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है किन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर जीव अपने उस अविनाशी स्वरूप को भूल जाता है - इसीलिए आचार्य अविद्या या अज्ञान और जगत् के सम्बन्ध को इस प्रकार से व्याख्यायित करते है -

[1]माया मात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगत कौतुकः।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधी।।

"जिस (ज्ञानी पुरूष) का कौतुक (उत्सुककता) समाप्त हो गया है, वह धीर बुद्धिवाला पुरूष इस विश्व को माया मात्र देखता हुआ, मृत्यु के समीप आने पर क्यो भयभीत होता है?

आचार्य का आशय यह है कि यह नामरूपात्मक जगत मिथ्या है, जो कि अविद्या के कारण प्रतीत हो रहा है। परमार्थिक दृष्टि से तो सब कुछ एक मात्र अद्वय अविनाशी वह परम तत्त्व है, और इस दृष्टि से जगत् उससे अन्य कुछ भी नहीं तो फिर इस जगत् के सुख-दुख ज्ञानी अर्थात जो अपने स्वरूप में स्थित है, जिसके अज्ञान का निवारण हो चुका है वह यदि सामने मृत्यु जैसा जगत् का दुःसह दुःख हो तब भी दुखी नहीं होता। क्योंकि उसके लिए इस जगत् के सारे सुख-दुख जगत की भाँति ही मिथ्या होते हैं।

---

1. अष्टावक्रगीता - 3.11

इसी प्रकार आचार्य जगत को ब्रह्म का विवर्त मानते हुए जो कि अज्ञान के कारण ही प्रतीत होता है रज्जु सर्प, शुक्ति रजत सागर और तरंग स्वर्ण और स्वर्णाभूषण आदि का उद्धरण भी जगह-जगत देते हैं आचार्य जगत को अविद्या जनित बताते हुए इसकी प्रतीति का कारण अज्ञानमयी दृष्टि बताते हुए इस प्रकार से कहते हैं -

[1]समस्तं कल्पना मात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्।।

"समस्त जगत् मात्र कल्पना ही है, आत्मामुक्त और सनातन है - ऐसा ज्ञान होने पर क्या धीर पुरूष बालक की भाँति (अज्ञानमय) व्यवहार करता है?"

यह दृश्यमान जगत् कल्पना मात्र तथा आत्मा मुक्त अर्थात राग-द्वेष आदि से मुक्त और शाश्वत है - ऐसा विचार रखने वाला - धीर पुरूष चेतना की उच्चावस्था में स्थित रहता है। और उसको इस जगत् के सुख दुख प्रभावित नहीं करते क्योंकि उसका अज्ञान खत्म हो चुका होता है। वह बालक की भाँति विवेक रहित कार्य नहीं करता। इस प्रकार सांसारिक बंधन और राग - द्वेष तथा जगत् की प्रतीति का कारण भी अज्ञान ही है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 18.7

कल्पना का नाश हो जाता है। प्रकाश द्वारा अंधकार की निवृत्ति होने पर रज्जु-दर्शन हो जाता है तथा सर्प के भ्रम एवं कल्पना का नाश हो जाता है। परमसत्ता चैतन्यस्वरूप है तथा सत् है और यह देह और विश्व असत् है। अपने भीतर ज्ञान का उदय होने पर एक मात्र परमात्मा की चैतन्य-सत्ता का बोध हो जाता है, तथा असत् विश्व का लोप हो जाता है। इसीलिए आचार्य अपना उद्गार इस प्रकार से प्रकट करते हैं।

[1]सशरीरं मिदं विश्वं न किन्चिदिति निश्चितम्।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽऽधुना।।

"देह सहित यह विश्व (देह और विश्व) कुछ नहीं है और आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ऐसा मेरे द्वारा निश्चित हुआ है। अतः अब किसमें (विश्व की) कल्पना हो?"

परमसत्ता समुद्र की भांति है और जगत् पोत की भाँति समुद्र में पोत इधर-उधर भटकते रहते हैं किन्तु वे समुद्र को क्षुब्ध नहीं करते उसी प्रकार परम्सत्ता रूपी सिन्धु को जगत्त नौका किसी भी प्रकार से क्षुब्ध नहीं करती। आत्मज्ञानी के मन में अनेक प्रकार के क्षोभ उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे आत्मज्ञानी अर्थात जो अपने स्वरूप में स्थित है उसकी चेतना को क्षुब्ध नहीं करते। इसीलिए आचार्य इस प्रकार से उपदेश करते हैं।

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.19

[1]मय्यन्त महाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।

भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्य सहिष्णुता।।

"मुझ अनंत महासागर में विश्वरूपी नौका अपने स्वभाव रूपी वायु से भ्रमण करती है, (किन्तु) मेरी असहनशीलता नहीं है।"

विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा अनंत महासागर के सदृश परम शान्त होता है। तरंगे समुद्र से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती हैं। उनके उत्पन्न होने से समुद्र की वृद्धि नहीं होती तथा उनका विलय होने से उसकी कोई हानि नहीं होती। वह उनके उदय और अस्त से प्रभावित नहीं होता। मनुष्य लौकिक अहंकार के कारण जगत् के नानत्व का अनुभव करता है, किन्तु अहंकार का उदात्तीकरण होने पर मनुष्य आनंदावस्था में स्थित हो जाता है।

[2]मय्यनंत महाम्भोधौ जगद्वीयिः स्वभावतः।

उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः।।

"मुझ अनंत महासागर में जगत्रूपी तरंग अपने स्वभाव से ही उदय हो अथवा अस्त हो। मेरी न वृद्धि होती है, न क्षति।"

यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उस परमसत्ता में सिन्धु की भाँति तरंङ्गि.त होता रहता है और वह परमसत्ता विश्व के तरंगित होने

---

1. अष्टावक्रगीता – 7.1
2. अष्टावक्रगीता – 7.2

से किसी प्रकार के क्षोभ या हलचल से अप्रभावित रहता है अर्थात यह तरंगित विश्व उस समुद्ररूपी परमसत्ता का विवर्त मात्र है अन्य कुछ नहीं।

[1]विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्ग.ा इव सागरे।

तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव।।

"जहाँ यह विश्व तरंगो की भाँति स्फुरित होता है वह तू है इसमें संदेश नहीं है। हे चैतन्य रूप, संताप रहित हो जा।"

इस प्रकार आचार्य व्यावहारिक जगत जिसमें भौतिक सुख–दुःख सब ओर व्याप्त हैं को असत् मानते हैं, व्यवहार में जगत का नाम रूपात्मक प्रतीत होना या जगत् में द्वैत का भान होना अज्ञान के कारण है ज्ञानी की दृष्टि में एक मात्र अद्वय परमसत्ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

(iv) सृष्टि का जीव से सम्बन्धः

अष्टावक्र गीता में आचार्य ने जगत् को नाव के समान तथा जीव को उस नाव पर व्यापार करने वाले व्यापारी और परमसत्ता को समुद्र के समान बताया है। इसी जगत् रूपी नाम में जीव रूपी व्यापारी अपने समस्त व्यापार कर्म करता है अर्थात जीव का जीवत्व तभी तक है जब तक उसकों संसाररूपी नौका का अज्ञान जनित रूप

---

1. अष्टावक्रगीता – 15.7

दृष्टिगत हो रहा है जैसे ही ज्ञान होने पर यह अज्ञान जनित रूप ओझल होता है वैसे ही जीव का जीवत्व और संसार की नामरूपात्मकता दोनों एक साथ समाप्त हो जाती है और शेष बचता है समुद्र रूपी वह अद्वयतत्व, इस प्रकार जीव और संसार दोनों का अस्तित्व एक साथ ही रहता है और एक के न रहने अर्थात संसार की नामरूपात्मकता या जीव का जीवभाव नष्ट होने पर, तत्काल ही दूसरे का भी आभासित अस्तित्व समाप्त हो जाता है और फिर सर्वत्र ब्रह्म् की ब्रह्म्मयता व्याप्त हो जाती है।

[1]मय्यनन्त महाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः।।

"अनंत महासागर समुद्र रूप मुझमें चित्त रूपी वायु के शान्त होने पर जीवात्मा रूपी व्यापारी के अभाग्य से जगत् रूपी पोत विनष्ट हुआ।"

यह जगत् और जीव दोनों मिथ्या है ये दोनों ही चित्त से आरोपित होते हैं। ज्ञान द्वारा चित्त का विच्छेद एवं लोप होने पर जगत् और जीव भी विलुप्त हो जाते हैं।

जब चित्त संकल्प - विकल्प से शून्य और शान्त होता है। तब संसार भी विलुप्त हो जाता है। चित्त की वृत्तियों के सम और

---

1. **अष्टावक्रगीता - 2.24**

शान्त होने पर जीव अपने मूल चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। 'अभाग्याज्जीव वणिजो' सूत्र इस बात का द्योतक है कि आत्मा के शरीर में विद्यमान रहते हुए भी यदि चित्त किसी प्रकार शान्त, स्थिर हो जाय तो प्रारब्ध कर्म का क्षय हो सकता है, जीव के व्यापार का, उसके कर्माधिकार का अभाव हो सकता है। और जब कर्माधिकार का अभाव हो गया तब ऐसा कोई कारण शेष नहीं रहता कि उसकी विश्वरूपी नौका नष्ट न हो जाय। यदि जीव के चित्त की चंचलता दूर हो जाय, यदि वह शान्त हो जाय तो विषय-वासना रूपी लहरों का उठना भी बंद हो जायेगा और जब वे लहरें नहीं उठेंगी तब जीव निष्काम कर्म ही करेगा जिसमें फल-योग, जिसके परिणाम स्वरूप संसार में आवा-गमन से सहज ही जीव को छुटकारा मिल जायेगा।

जब जीव वासनाओं के घेरे को तोड़ देता है, उसकी इच्छा आशाएं समाप्त हो जाती हैं। इच्छाओं का पारस्परिक द्वन्द रूक जाता है। सब कुछ निःशेष हो जाता है और जीव जब शान्त हो जाता है तब वह इस सांसारिक भंवर जाल से भी सर्वथा मुक्त हो जाता है।

[1]मय्यनंत महाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः।।

"आश्चर्य है, अनंत महासमुद्ररूप मुझमें जीवात्मारूप तरङ्गे. स्वभाव से ही उठती है, टकराती हैं, खेलती हैं (और) प्रवेश कर

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.25

जाती है''। जीवात्मायें तरंगों की भाँति चेतना सिन्धु से उत्पन्न होकर जगत में नाना प्रकार से किल्लोल करके अंत में उसी चेतना सिन्धु में विलीन हो जाती है।''

(v) निष्कर्ष–

आचार्य ने सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म् का विवर्त मात्र माना है। जिस प्रकार साँप, रस्सी का विवर्त है उसी प्रकार विश्व ब्रह्म् का विवर्त है आचार्य के उपदेश की शैली से ज्ञात होता है कि – वे त्रिविध सत्ताओं में परमार्थिक सत्ता अर्थात ब्रह्म् को ही सत् मानते है। तथा शेष दो सत्ताताओे प्रातिभासिक और व्यावहारिक को सत् नहीं मानते। आचार्य ने सृष्टि-प्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया शायद इसलिए कि किसी मत या वाद का उनका लक्ष्य, खंडन या मंडन न होकर जीव कल्याण या स्वरूप बोध हेतु उपदेश करना था।

षष्ठ अध्याय

बंध-मोक्ष एवं साधना

(i) बंध का स्वरूपः

आत्मा मूलतः नित्य, मुक्त विशुद्ध, चैतन्य एवं अनश्वर है। जब यह अपने को शरीर, मन, या इन्द्रिय से एकाकार कर लेती है, तब यह बंधन ग्रस्त हो जाती है, आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न ज्ञानेन्द्रिय है, न कर्मेन्द्रिय। अज्ञान वश व्यक्ति जब अपनी आत्मा को इनमें से किसी के साथ मिला देता है तब वह बंधन में जकड़ जाता है। वह शरीर मन एवं इन्द्रियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुख समझकर सदैव परेशान रहता है। यही बंधन है अष्टावक्र गीता में इसका स्वरूप इस प्रकार से बताया गया है-

[1]नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्ध असीद्या जीविते स्पृहा।।

"मैं देह नहीं हूँ, मेरा देह नहीं है। मैं जीवात्मा नहीं हूँ। मैं चित् स्वरूप हूँ। मेरी जो जीवित रहने की इच्छा, वह ही मेरा बंधन था।"

सांसारिक वस्तुओं, भौतिक पदार्थो से ममत्व का नाता जोड़ लेना ही बंधन है। अज्ञान के वशीभूत जीव अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और अच्छे बुरे, पाप-पुण्य आदि भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म करता है, कर्म एक ऐसी शक्ति है जिसका फल

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.22.

व्यक्ति को अनिवार्य रूप से भुगतना पड़ता है। सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं मिल जाता इसलिए जीव को बार-बार जन्म धारण करना और मरना पड़ता है। जन्म-मरण के चक्कर में फंसना ही बंधन कहा गया है- अष्टावक्र गीता में तृष्णा को ही बंधन कहा गया है -

[1]तृष्णा मात्रात्मकः बंधः

(ii) बन्ध का कारणः

आत्मा, शरीर, इन्द्रियों और मन के सुख-दुःख को अपना मानने लगता है, यही बंधन का कारण है। पिता अपनी संतान से अपना पन रखने के कारण उसके सुख और दुःख को अपना मानने लगता है और सुखी-दुःखी होता रहता है उसीं प्रकार आत्मा भी शरीरादि के सुख-दुःख से सुखी और दुःखी होता है।

[2]तदाबंधो यदाचितं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।
किन्चिन्मुन्चति गृहणाति किन्चित् ह्यष्यति कुप्यति।।

"जब मन कुछ चाहता है, कुछ शोक करता है अथवा चिन्ता करता है, कुछ त्याग करता है, कुछ ग्रहण करता है, कुछ प्रसन्न होता है कुछ कोप करता है, तब बंधन होता है।"

---

1. अष्टावक्रगीता - 10.4
2. अष्टावक्रगीता - 8.1

आत्मज्ञानी ग्रहण और त्याग के द्वन्द से परे चला जाता है तथा सम एवं शान्त रहता है वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता तथा प्रवाहपतित घटनाओं में सम एवं शान्त रहकर यथोचित व्यवहार करता है। वह सदा सहज रहता है किसी विषय में कुछ इच्छा करना, कुछ चिन्ता अथवा शोक करना कुछ ग्रहण करना, कुछ त्याग करना, कुछ प्रसन्न होना, कुछ अप्रसन्न होना बंधन कारक है।

वास्तव में मन में पदार्थों की तृष्णा तथा उनके भोगों की वासना ही बंधन का कारण होती है। वासना रहित आत्मज्ञानी सदा मुक्त रहता है तथा सदा सम और शान्त रहता है, भौतिक आकर्षणों से मुक्त, वह न कामना करता है, न चिन्ता, भय, क्रोध ही करता है।

बंधन का कारण बंधन मति है अर्थात जो स्वयं को मुक्त मानता है वह मुक्त है जो स्वयं को बद्ध मानता है वह बद्ध है। इसे अष्टावक्र इस प्रकार से कहते है –

[1]मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।

किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्।।

"निश्चय ही जो स्वयं को मुक्त मानता है, वह मुक्त है तथा जो स्वयं को बद्ध मानता है वह बद्ध है। संसार में यह लोकोक्ति ठीक है कि जैसी मति, वैसी गति।"

---

1. अष्टावक्रगीता – 1.11

जो विवेकशील पुरूष चिन्तन द्वारा निश्चय कर लेता है कि परमात्मा सत् है तथा चैतन्य स्वरूप है और वह स्वयं भी मूलतः सत् तथा चैतन्य स्वरूप है, वह बंधन मुक्त हो जाता है किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाता वह बंधन में पड़कर नाना प्रकार के कष्टों को भोगता रहता है।

अज्ञान ही बंधन कारण है, जो मुक्त है, वही सुख का अनुभव कर सकता है बंधन में रहकर सांसारिक भोग कदापि सुख-दायक नहीं हो सकते बंधन परम दुःख है, उन्मुक्तता परम सुख है। आत्मज्ञानी मुक्त होता है। जब मन किन्हीं भी दृष्टियों से सक्त (आसक्त) हो तब बंध होता है –

[1]तदा बन्धो यदा चितं सक्तं कास्वापि दृष्टिषु।

मनुष्य का मन जब आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में अर्थात भौतिक विषयों के चिन्तन में रत् हो जाता है और मन विषयों की वृत्ति को अपनाकर विषयाकार हो जाता है तब मन बंधन ग्रस्त हो जाता है। विषयासक्ति ही मन का बंधन है।

मनुष्य की आसक्ति, इच्छा और वासना के मूल में अहंकार होता है। अहंकार का अर्थ है देह आदि पदार्थों के साथ मैं और मेरा का भाव होना। अहंकार से युक्त होने पर देहाभिमानी मनुष्य

---

1. अष्टावक्रगीता – 8.3

स्वयं को कर्मों का कर्ता तथा फलों का भोक्ता मान लेता है तथा सुखी और दुःखी होता है। अहंकार के कारण ही मनुष्य राग द्वेष, घृणा और क्रोध करता है और बंधन ग्रस्त रहता है।

कामना संसार वृक्ष का मूल है, कामनायें अज्ञान से उत्पन्न होती हैं तथा नाना प्रकार के क्लेशों और कष्टों का कारण होती हैं तृष्णा कामना का उद्दाम रूप होती है तथा मनुष्य को भटकाती रहती है, वही बंधन का कारण है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति होने से उसकी प्राप्ति के लिए कामना उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य कामना पूर्ति के लिए आतुर होकर चिन्ता और आशा करता है। कामना पूर्ति में विघ्न होने से मन में क्रोध उपन्न हो जाता है। कामना पूर्ति की चिन्ता और उसकी उत्कट आशा मनुष्य के मन को व्याकुल और अशान्त कर देती है, चिन्ता मन और देह को जर्जर कर देती है और मनुष्य पुरूषार्थ करने में अक्षम होकर बंधन ग्रस्त हो जाता है।

[1]चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।"

"इस संसार में चिन्ता से दुःख उत्पन्न होता है अन्य प्रकार से नहीं"।

---

1. अष्टावक्रगीता - 11.5

मन में विषयों की अतृप्त वासनायें मन को शान्त और स्थिर नहीं होने देती। वासनाओं से मुक्ति हठपूर्वक नहीं हो सकती यदि इनका हठपूर्वक त्याग करने का प्रयास किया गया तो बंध और अधिक दृढ़ हो जाने की आशंका रहती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वासनाओं का हठपूर्वक त्याग करना भी बंध का कारण है।

[1]हेयोपादेयता तावत्ससारविटपाङ्कुरः।

स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्।।

"जब तक स्पृहा (तृष्णा) जीवित है, जो अविवेक दशा का स्थान (अथवा कारण) है, तब तक निश्चिय ही, ग्राह्य और अग्राह्य का भाव भी जीवित है, जो संसार रूपी वृक्ष का अंकुर है।"

मनुष्य में तृष्णा अविवेक का वासस्थान अथवा अविवेक का कारण होती है। तृष्णा के प्रबल होने पर अविवेक मन को ग्रस्त कर लेता है, तृष्णा से ग्रस्त मनुष्य विवेक भ्रष्ट हो जाता है वह मिथ्या जगत् को सत्य मानकर भटकता ही रहता है। तृष्णा से ग्रस्त मनुष्य चिन्तन-शक्ति खो देता है। उसे भले और बुरे का विवेक नहीं रहता तथा तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वह प्रिय वस्तु का ग्रहण और अप्रिय वस्तु का त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग का क्रम जगत् प्रपंच के विस्तार का कारण होता है। तृष्णा-ग्रस्त मनुष्य

---

1. अष्टावक्रगीता - 16.7

सांसारिकता के कुचक्र में जकड़ा रहता है तथा कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता। राग और द्वेष ये दोनों ही बंधन के कारण है इसी बात को आचार्य इस प्रकार से कहते है –

[1]प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।

"प्रवृत्ति होने पर राग, निवृत्ति होने पर निश्चय ही द्वेष उत्पन्न हो जाता है।"

मनुष्य की इन्द्रियां बहिर्मुखी होकर अपने विषयों की ओर आकृष्ट होती है, तथा मन में उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, मनुष्य अपनी प्रिय वस्तुओं के प्रति राग करता है तथा विपरीत स्थिति में अप्रिय वस्तुओं के प्रति द्वेष करता है राग और द्वेष से ग्रस्त मनुष्य कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता तथा सदैव दुःखी ही रहता है। संसार के विषय मनुष्य के मन को चंचल कर देते हैं तथा वह बहिर्जगत् में निरंतर व्यस्त और सक्रिय रहता है। यह सब राग-द्वेष के कारण ही होता है जिससे जीव बंधन-ग्रस्त रहता है। मनुष्य का मन अपने प्रिय एवं अनुकूल वस्तुओं के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष का भाव तो रखता है जिससे वह हमेशा अशान्त रहता है किन्तु अपने भीतर स्थित दुःख के कारणों को नहीं खोजता तथा व्यक्तियों, परिस्थितियों भाग्य तथा भगवान को दोष देता है, और हताश होकर संसार ही छोड़ देना चाहता है। यह एक विचित्र विडम्बना है। जीव का मोक्ष के प्रति

---

1. अष्टावक्रगीता – 16.8

अभिमान, देह और भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व का भाव ही बंधन का कारण है इसे आचार्य इस प्रकार से कहते हैं –

[1]यस्याभिमानो मोक्षेऽपि ममता तथा।

न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःख भागसौ।।

"जिसके मन में मोक्ष के प्रति अभिमान का भाव तथा देह के प्रति भी ममता (है), वह न ज्ञानी (है) न योगी (है) वह केवल दुःख का भागी है।"

जिसके मन में देह के प्रति ममत्व है वह अज्ञानी है। सहज भाव से देह की आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा समुचित चिकित्सा आदि करना दोषमय नहीं है, किन्तु उसके साथ ममत्व जोड़कर चिन्ता करना अविवेक है। आध्यात्मिकता का अभिमान होना तथा देह के प्रति ममत्व होना बंधन का कारण है। आध्यात्मिकता का अभिमान करने वाला व्यक्ति मूढ़ होता है और वह आध्यात्मिक ज्ञान को सुनकर भी अपनी मूढ़ता का परित्याग नहीं कर पाता क्योंकि उसमें अभिमान रहता है।

[2]मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढ़ताम्।

निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः।।

---

1. अष्टावक्र गीता – 16.10
2. अष्टावक्र गीता – 18.76

"मन्द उस वस्तु (आत्म तत्व) को सुनकर भी विमूढ़ता को नहीं छोड़ता, वह वाह्य प्रयत्न से संकल्प रहित (होकर भी) भीतर विषय की लालसा वाला ही होता है।"

मूढ़ मनुष्य आत्म तत्व का श्रवण करने पर तथा बाह्य रूप से निर्विकल्प प्रतीत होते हुए भी अपने भीतर लालसा को धारण किये हुए रहता है मूढ़ मनुष्य ज्ञान का श्रवण करके भी उस पर गहन चिन्तन नहीं करता तथा उसका रूपांतरण नहीं होता दमन करने से मन के विकास शान्त नहीं होते।

मलिन चित्त में ज्ञान का बीज प्रस्फुटित नहीं होता मूढ़ मनुष्य अनासक्ति और निर्लेपता का अभिनय अथवा प्रर्दशन करता है, किन्तु उसका अंतःकरण वासनामय होता है और यही उसके बंधन का कारण है।

(iii) मोक्ष का स्वरूप :

परमार्थिक दृष्टि से मुक्ति न तो उत्पन्न होती है, न पहले से अप्राप्त है। यह प्राप्त ही की प्राप्ति है। यह शाश्वत सत्य का अनुभव है। यह प्राप्त सर्वदा से है, उसका साक्षात अनुभव ही मुक्ति है, मोक्ष प्राप्ति की उपमा इस प्रकार से दी जा सकती है जैसे किसी के गले में पहले ही से हार है, परंतु वह कंठगत हार को भूलकर इधर-उधर ढूँढ़ता फिरता है अंत में जब वह अपनी ओर देखता है तो

हार मिल जाता है। इसी तरह मुमुक्ष को मोक्ष प्राप्ति के लिए कहीं इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, सिर्फ अपने को समझने की जरूरत है, बंधन अज्ञानकृत होता है, अतः अज्ञान का आवरण दूर कर देना ही मुक्ति है।

अष्टावक्रगीता में मोक्ष के स्वरुप को आचार्य ने इस प्रकार से बताया है –

[1]तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वान्छति न शोचति।

न मुन्चति न गृहणाति न हृष्यति न कुप्यति।।

"जब मन न कामना करता है, न चिन्ता और शोक करता है, न त्याग करता है, न ग्रहण करता है, न प्रसन्न होता है, न कोप करता है, तब मुक्ति होती है।"

आत्मज्ञानी जगत् प्रपंच को कल्पना प्रसूत एवं मिथ्या मानकर वासना से बद्ध नहीं होता, मनुष्य जब न कामना करता है और न चिन्ता व शोक करता है। जब न अनुकूल को स्वीकृत करता है न प्रतिकूल को अस्वीकृत करता है, तथा जब विशेष परिस्थिति को प्राप्त करके न प्रसन्न होता है न अप्रसन्न होता है, अर्थात जब मनुष्य प्रत्येक अवस्था में सम और शान्त रहता है, तथा सहज भाव से व्यवहार करता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है। मन की मुक्ति

---

1. अष्टावक्रगीता – 8.2

ही मुक्ति है, आत्मज्ञानी भौतिक सुख दुःख लाभ-हानि, मान-अपमान आदि समस्त द्वन्दों से ऊपर उठकर आनंदावस्था में स्थित हो जाता है यही मुक्ति का स्वरूप है। मुक्त व्यक्ति अपने भीतर अनुभव करता है कि वह आत्मा ही है तथा ब्रह्म से लेकर तृण तक सम्पूर्ण जगत् आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह निश्चय कर लेता है कि सर्वत्र वही व्याप्त है तथा वह सर्वरूप है वह अन्य मनुष्यों की भांति संकल्प-विकल्प नहीं करता तथा निर्मल अर्थात कामनाओं आदि से विमुक्त होता है। वह परमशान्त होता है, तथा प्राप्त और अप्राप्त आदि भावों से पूर्णतः निवृत्त होता है उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं होता वह आत्मानंद की अवस्था में पूर्णता का अनुभव करता है यही पूर्णता का अनुभव ही मुक्ति है इसे आचार्य ने इस प्रकार से कहा है –

[1]आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त महमेवेति निश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः।।

"ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सब कुछ मैं ही हूँ, ऐसा निश्चय करने वाला, निर्विकल्प, शुचि और शान्त होता है।"

आत्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है ऐसा भाव ही मोक्ष है जिसे आचार्य ने इस प्रकार से कहा है –

---

1. अष्टावक्रगीता– 11.7

[1]अकिंचन भवं स्वास्थ्यं।

मोक्ष के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए आचार्य ने मुक्त व्यक्ति को निष्काम कर्मयोगी बताया है अर्थात कर्म करना और कर्म करते हुए भी निष्कर्मता प्राप्त करना –

[2]कर्मनैष्कर्म्य निर्बन्ध भावा देहस्थयोगिनः।
संयोगा योग विरहादहमासे यथा सुखम्।।

"कर्म और निष्कर्म के बंधन से संयुक्त भावा वाले देह में आसक्त योगी होते हैं। संयोग और अयोग के विरह के कारण मैं सुख पूर्वक स्थित हूँ।"

[3]असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगत स्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।

"आत्मज्ञानी कर्म और निष्कर्मता से परे होता है"

मोक्ष के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए आचार्य इस प्रकार से कहते है –

---

1. अष्टावक्रगीता– 13.1
2. अष्टावक्रगीता– 13.4
3 अष्टावक्रगीता– 18.49

[1]मोक्षोविषयवैरस्यं

"विषयों से विरसता मोक्ष है।"

मनुष्य को परमशांति एवं पूर्णता की अनुभूति होना ही मोक्ष है मुक्त पुरुष निष्क्रिय सा प्रतीत होता है, उसे भ्रम वश घोर आलसी की संज्ञा दी जा सकती है, अपनी मुक्तावस्था में उसे नेत्रों का निमेष और उन्मेष भी खेद जनक अर्थात बाधक प्रतीत होते हैं।

मनुष्य में जब तक सांसारिक भोगों की इच्छा एवं कर्म की प्रवृत्ति शेष रहती है तब तक उसे शांति की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान और समाधि से भी शाश्वत शांति नहीं प्राप्त होती मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य को तुच्छ भोगों की, कर्मरत होने की, तथा समाधि आदि की रूचि नहीं रहती।

मनुष के मन में प्रायः इतने अधिक द्वन्द्वात्मक उद्वेग होते हैं तथा इतनी अधिक रिक्तता होती है, वह अल्पकाल तक एकाकी रहने पर ही उनके उद्रेक से घबरा जाता है। तथा उनसे बचने के लिए अनेक उपाय करने लगता है। सामान्य मनुष्य इन्द्रियों तथा मन की तृप्ति करने का प्रयत्न करता है, किन्तु विषयों से तृप्ति न होने पर वह अशान्त होकर भटकता ही रहता है। जो मनुष्य मुक्त स्वरूप है वह अपने भीतर पूर्णता का अनुभव करता है। वह नितान्त निर्बन्ध एवं स्वेच्छाचारी होता है। वह जीवन्मुक्त होता है तथा विधि-निषेध से परे

---

1. अष्टावक्रगीता- 15.2

स्थित होता है। वह निर्जन वन में और सघन जन समुदाय के मध्य में समभाव से अपनी उच्चावस्था में स्थित रहता है। वह अपनी आत्ममग्नता के कारण सदा एकाकी ही होता है। आचार्य ने भी इसी मुक्त स्वरूप को इस प्रकार से कहा है–

[1]तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।

तृप्तः स्वच्छेन्द्रियों नित्यमेकाकीरमते तु यः।।

"जो नित्य तृप्त, शुद्ध इन्द्रियवाला अकेला ही विचरता है, उसके द्वारा ज्ञान का फल तथा योगाभ्यास का फल निश्चय ही प्राप्त हो गया है।"

मुक्तस्वरूप पुरूष के बारे में 'दन्तात्रेय' जी ने भी इस प्रकार से कहा है –

"एकाकीविचरेत् विद्वान।"

"ज्ञानी को एकाकी विचरण करना चाहिए।"

मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। ब्रह्म आनंदमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनंदमय माना गया है। आचार्य के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के बाद भी मानव का शरीर कायम रह सकता है क्योंकि शरीर तो प्रारब्ध कर्मो का फल है

---

1. अष्टावक्रगीता– 17.1

जीवनमुक्त व्यक्ति संसार के कर्मों में भाग लेता है, फिर भी वह बंधन ग्रस्त नहीं होता। इसका कारण है कि उसके कर्म अनासक्त भाव से किये जाते हैं।

(iv) मोक्ष के उपाय :

परमार्थतः तो जीव शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य स्वरूप साक्षात ब्रह्म है किन्तु वह अपने इस स्वरूप को भूलकर जगत् में नानात्व देखता है और सुख-दुःख का भागी बनता है, यही जीव का बंधत्व है और यही बंधत्व उसको मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है और जीव अपने को बंधन मुक्त होने के लिए प्रयास करता है यही मोक्ष का कारण है सृष्टि के समस्त भौतिक पदार्थ साकार हैं तथा नश्वर हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता। समस्त सृष्टि और उसके स्थूल पदार्थ एक निराकार नित्य एवं सूक्ष्म सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है सभी पदार्थ मिथ्या अथवा असत् हैं, तथा आत्म तत्त्व सत् है। सर्वत्र पर ब्रह्म परमात्मा व्याप्त है। वह निराकार तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्य है किन्तु अज्ञान-वश जीव अपने इस स्वरूप को भूलकर भटक जाता है और भटकाव से मुक्ति के लिए प्रयास करता है।

विवेकशील पुरुष त्याज्य वस्तुओं, विचारों और कर्मो का त्याग कर देता है तथा ग्राह्य वस्तुओं, विचारों और कर्मो का ग्रहण कर लेता है। जो विचार और कर्म मनुष्य को क्षणिक सुख देते हैं, किन्तु मन और बुद्धि को पतन की ओर ले जाते हैं, वे त्याज्य होते

हैं। जो विचार और कर्म मनुष्य को स्थायी सुख देते हैं, वे ग्राह्य होते हैं। समस्त सुखों में सात्विक सुख श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु संसार के सुखों से आत्यन्तिक तृप्ति कदापि नहीं होती। सांसारिक सुख आत्मिक आनंद की तुलना में तुच्छ होते है। यही आत्मिक आनंद की प्राप्ति की इच्छा मोक्ष की ओर जीव को उन्मुख करती है। सामान्य जन कामना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं जिसके कारण उसका सुख-दुःख उन्हे बंधन में डाल देता है, और यही बंधन, जिसमें पड़कर वे नाना प्रकार के कष्टों को भोगते है।

[1]कर्त्तव्य दुःख मार्तण्ड ज्वाला दग्धान्तरात्मनः।

कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्।।

"कर्म से उत्पन्न दुःखरूपी सूर्य की ज्वाला से दग्ध मन वाले मनुष्य का शान्तिरूपी अमृत की धारा की वृष्टि बिना सुख कहाँ ?

आचार्य द्वारा कही गयी दुःख रूपी सूर्य की ज्वाला से मुक्ति और शांति रूपी अमृत की धारा की प्राप्ति ही मोक्ष है।

आत्मज्ञानी अपने भीतर आत्मा के साथ ब्रह्मभूत होने का अनुभव करता है, आत्मज्ञानी सदैव मुक्तावस्था में रहता है।

---

1. अष्टावक्रगीता - 18.3

आत्मज्ञानी के मन में अनेक प्रकार के क्षोभ उत्पन्न होते हैं किन्तु वे आत्मज्ञानी की विशुद्ध चेतना को क्षुब्ध नहीं करते। आत्मज्ञानी कभी असहिष्णु नहीं होता तथा निरन्तर सम और शान्त रहता है। वह मन की गतिविधि से ऊपर उठा रहता है वह बाह्य जगत् की तथा अपने मन की घटनाओं से प्रभावित नहीं होता है। "मैं विशुद्ध चेतना हूँ।" ऐसा अनुभव करके वह शान्त रहता है।

विशुद्ध चैतन्य स्वरूप वह परम सत्ता अनंत महासागर के सादृश्य परम् शान्त होता है तरंगें समुद्र में उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती है उनके उत्पन्न होने से समुद्र की वृद्धि नहीं होती तथा विलय होने से उसकी कोई हानि नहीं होती वह परम सत्ता अर्थात आत्मा उनके उदय और अस्त से प्रभावित नहीं होती।

आत्मज्ञानी पुरूष अहंकार से विमुक्त होता है और अपने भीतर आत्मा की अनंतता का अनुभव करता है। मनुष्य लौकिक अहंकार के कारण वृद्धि और हानि का अनुभव करता है, किन्तु अहंकार का उदारीकरण होने पर मनुष्य आनंदावस्था में स्थित हो जाता है। आत्मज्ञानी को आत्मा के महासमुद्र में विश्व पोत के विचरण का अनुभव होता है, किन्तु विश्वपोत आत्मा के महासमुद्र को क्षुब्ध नहीं करता तथा पूर्ण ज्ञान होने पर उसे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में मात्र एक विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अस्तित्व सत् है तथा विश्व का अपना अस्तित्व नहीं है।

शब्दादि विषयों में प्रीति एक बाधा होती है। विषयों की आसक्ति से निवृत्त होने पर ही मनुष्य आत्मा की ओर अभिमुख होता है। चैतन्य स्वरूप आत्मा जड़ आँखादि का विषय नहीं हो सकता अर्थात आत्मा का नेत्रादि से दर्शन नहीं हो सकता। कायिक, वाचिक मानसिक कर्म से भी आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता ज्ञानी पुरुष कर्मो को सहायक नहीं मानता तथा इन्हें भी बाधक ही मानता है। इस प्रकार विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करने पर तथा आत्मदर्शन हेतु विक्षेप रूप बाह्य साधनों का भी त्याग करने पर एकाग्रता सम्भव हो जाती है तथा आत्मज्ञानी शान्त अवस्था में स्थित हो जाता है।

जिन्हे आत्मबोध प्राप्त नहीं हुआ है वे एकाग्रता के लिए समाधि आदि का व्यवहार करते हैं आत्मज्ञानी के लिए प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि अनावश्यक हो जाते हैं। आत्मज्ञानी ऐसा समझकर समाधि आदि का प्रयोग नहीं करता तथा आत्मा के चित्त स्वरूप में भली प्रकार स्थित हो जाता है।

आत्मज्ञानी बाह्य जगत् की क्रियाओं का ही नहीं बल्कि मन की चेष्टाओं का भी द्रष्टा होकर परम शान्त रहता है – "यह मन है, मैं मन नहीं हूँ, मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ।" ऐसा जानकर आत्मज्ञानी मन तथा अहंकार से परे जाकर आत्म चैतन्य में स्थित हो जाता है। और परम शान्त रहता है।

आत्मज्ञानी त्याज्य और ग्राह्य के द्वन्द से मुक्त होता है। आत्मज्ञानी पुण्य और पाप से परे चला जाता है। उसके लिए विधि और निषेध कोई प्रयोजन नहीं रखता। उसके कर्म दैवी होते हैं।

आत्मज्ञानी हर्ष और विषाद के द्वन्द से भी मुक्त होता है, तथा वह नित्य आनंद की चेतना में स्थित होता है।

आश्रम और अनाश्रम ध्यान, चित्त में स्वीकृत करना अथवा अस्वीकृत करना इन सब में अपना विकल्प देखकर तथा इनसे दूर होकर इस प्रकार से मैं (परम सत्ता) अपने स्वरूप में स्थित हूँ। इस प्रकार से मुमुक्ष को सोचना चाहिए।

सामान्य मनुष्य के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था है। आत्मज्ञानी आश्रमों का उलंघन कर देता है तथा उसे वर्णाश्रम धर्म से परे अतिवर्णाश्रमी कहा जाता है।

ध्यान मनोनिग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिए अत्यन्त सहायक होता है। किन्तु आत्मज्ञान होने पर ध्यान निष्प्रयोजन हो जाता है। आत्मज्ञानी चित्त का भी साक्षी हो जाता है। उसे चित्त की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की अर्थात चित्त पर संयमादि करने की आवश्यकता नहीं होती आत्मज्ञानी के लिए ये सब अनावश्यक होते है अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण वह नितान्त शान्त रहता है।

पतंजलि के योग दर्शन के अतिरिक्त लगभग समस्त धर्म ग्रन्थों में ध्यान प्रकृत्या का विशद वर्णन है।

[1] कर्मानुष्ठानम् ज्ञानद्यथैवो परमस्तथा।

बुद्धवा सम्यगिदं तत्त्वमेवाहमास्थितः।।

"जैसे-कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से आवृत्त है इसे भली भाँति जानकर मैं इस प्रकार ही (अपने स्वरूप में) स्थित हूँ।"

आत्मज्ञानी कर्म करने अथवा न करने को अज्ञान से प्रेरित मानता है। आत्मज्ञानी के लिए कर्म में प्रवृत्त होना अथवा निवृत्त होना अज्ञान मूलक होते हैं। उसे न कर्म करने की आवश्यकता होती है न विरत होने की। आत्मज्ञानी कर्मबंधन से मुक्त होता है वह अपने भीतर छिद्ररूप अवस्था में नितान्त शान्त रहता है। संसार की घटनायें और मन की अवस्थायें आत्मज्ञानी को विचलित नहीं करती वास्तव में वह जड़ अथवा चेतना शून्य नहीं होता बल्कि अति चेतन में स्थित होता है।

आत्मज्ञानी परमसत्ता के विषय में कुछ इस प्रकार से सोचता है - आत्मा अचिंत्य है, आत्मा बौद्धिक व्यायाम करने से उपलब्ध नहीं होता, आत्मा तर्कातीत है किन्तु अनुभवगम्य। आत्मा स्वयं

---

1. अष्टावक्रगीता - 12.6

सिद्ध सत् तथा साश्वत् है। तर्क महत्वपूर्ण होता है – किन्तु उसकी एक सीमा होती है। स्वानुभूति तर्क से बढ़कर होती है। अचिन्त्य का चिंतन भी एक चिन्तन अथवा चिन्ता हो जाती है अप्राप्त की चिन्ता की जाती है प्राप्त की चिन्ता नहीं होती। आत्मा तो सदा प्राप्त है। आत्मज्ञानी मन और बुद्धि से परे चला जाता है। सर्वसाक्षी आत्मज्ञानी चिन्तन को त्यागकर आत्म स्वरूप में स्थित होता है।

[1]एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।.

एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ।।

"जिसने ऐसे ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया, वह कृतार्थ हो गया जो ऐसे स्वभाव वाला ही है, वह तो कृतार्थ ही है।"

आत्मबोध प्राप्त करने के लिए, उस परमसत्ता को जानने के लिए आध्यात्मिक साधन की निन्दा नहीं की जा सकती किन्तु पूर्ण आत्म ज्ञानी के लिए यह अनावश्यक है। आत्मज्ञानी स्वतः सिद्धा अवस्था के हो जाता है अर्थात वह स्वयं परमसत्ता है।

वह मनुष्य धन्य है जिसने आध्यात्मिक साधन द्वारा जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लिया। वह महात्मा जिसे सहज ही, आत्मचेतन की उच्चावस्था को, मानों आन्तरिक विस्फोट द्वारा प्राप्त करके स्वभाव बना लिया, धन्य है। उसके समबन्ध में क्या कहा जा

---

1. अष्टावक्र गीता – 12.8

सकता है अर्थात उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता वह तो स्वयं शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म् है।

[1]तत्त्व विज्ञान सर्न्दशमादाय हृदयोदरात्।

नाना विधि परामर्श शल्योद्धारः कृतोमया।।

"आपके तत्व विज्ञान रूपी सन्दंश को लेकर मेरे द्वारा हृदय की गहराई से नाना प्रकार के विचाररूप बाणों का उद्धार किया गया – (विभिन्न मतों से उत्पन्न भ्रांति और संशय निकाल लिये गये)

विश्व की परमसत्ता एक ही है, यद्यपि उसके वर्णन अनेक हैं। परम सत्ता शुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा वह निर्गुण निराकार और निर्विकार है। उसकी प्राप्ति अर्थात उसके अनुभव का एक मात्र उपाय ज्ञान है ज्ञान के बिना मनुष्य को परमानंद की प्राप्ति नहीं होती। विभिन्न मत मनुष्य के चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं –

[2]शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्।

अनिवार्य और अनिश्चय की स्थित में चित्त की एकाग्रता सम्भव नहीं होती तथा लक्ष्य की प्राप्ति भी नहीं होती अनेक ओर दोड़ने के प्रयत्न में मनुष्य लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है, और कहीं भी नहीं पहुँच पाता, विवेकशील पुरूष अपनी रूचि और प्रवृत्ति के अनुसार

---

1 अष्टावक्रगीता – 12.1

2. विवेकचूड़ामणि – 62.

अपनी दिशा का निर्णय करके उस पर चलकर जीवन को कृतार्थ कर लेता है।

परमसत्ता को जानने के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्मवेत्ता गुरू की महिमा अपरिमित होती है, गुरू कुशल शल्य चिकित्सक की भाँति शिष्य को तत्त्वज्ञानरूप सन्दंश दे देता है, जिसे वह चिन्तन-मनन से तीव्र कर तथा स्वयं अपने हृदय के मध्य प्रवृष्ट संदेह रूप कंटक को निकाल कर परम सुखी हो जाता है। संदेह सत्य दर्शन के मार्ग में अत्यधिक बाधक होता है, तथा हृदय ग्रंथि के खुलने से उसकी निवृत्ति होने पर सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव साधक के अंतःकरण को आलोकित कर देता है।

ज्ञान के प्रकाश द्वारा अपने भीतर का अंधकार दूर होने पर शिष्य गुरू के प्रति धन्यवाद का ज्ञापन करता है।

[1]नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से गीता में कहा।

[2]तव प्रसाद प्रभु मम उर माही, संसय, शोक, मोह, भ्रम नाहीं।।

---

1. श्रीमद्भगवतगीता - 18.37

2. रामचरितमानस में गरूण ने काग भुसुण्डि से कहा।

[1] मैं कृतकृत्य भयउ तव बानी, सुनि रघुबीर भगति रस सानी।

अंधकार की निवृत्ति एवं प्रकाश की स्थापना शिष्य के जीवन को कृतार्थ कर देती है। एक दीप से दूसरे दीप के प्रज्ज्वलित होने पर दोनों कृतकृत्य हो जाते है। यह ज्ञान की महिमा है।

आत्मज्ञान प्राप्ति की साधना में रत मनुष्य के लिए पुण्य कार्य द्वारा चित्त को निर्मल करना, सुख भोग की वृत्ति का व्याग करना, भौतिक समृद्धि के प्रति उदासीन होना, तथा सत् और असत् का विवेक करना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, साधक द्वैत और अद्वैत पर भी गम्भीर विचार करता है। परम् सत्ता एक ही है तथा परमात्मा और जीवात्मा के अभेद होने के कारण द्वैत मिथ्या है।

आत्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा अनेक साधनों का कोई महत्व नहीं रहता – जिस प्रकार से नदी को पार कर लेने पर नौका का महत्व नहीं रहता। आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित उस परमसत्ता की अवस्था अवर्णनीय होती है।

[2]क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।

क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य में।।

---

1 रामचरितमानस में गरूण ने काग भुसुण्डि से कहा।

2. अष्टावक्रगीता – 19.3

"अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए भूत कहाँ? अथवा भविष्य् कहाँ? अथवा वर्तमान् भी कहाँ? अथवा नित्य कहाँ?"

आत्मज्ञानी दिक्-काल से परे होता है संसार में सब कुछ सापेक्षिक होता है तथा एक आत्मा ही निरपेक्ष है। भूत भविष्य और वर्तमान के आधार पर काल का विभाजन करना मिथ्या है काल तो एक तथा अनंत है तथा उसका विभाजन नहीं हो सकता वास्तव में काल केवल वर्तमान ही होता है क्योंकि भूतकाल का अंत हो चुका है और भविष्य अजन्मा है। काल सतत् प्रवाहमान होता है।

जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी, परमसत्ता को सम्यकरूप से जानने वाला कालगणना से परे स्थित होता है। तथा उसके लिए काल का अस्तित्व नहीं होता है। आत्मज्ञानी काल तथा देश की अवधारणा से परे स्थित होता है। तथा उसके लिए दिक् का अस्तित्व नहीं होता। भूत, भविष्य और वर्तमान, दिक-काल तथा नित्या और अनित्या मन और बुद्धि का विषय होते हैं अपने भीतर मन और बुद्धि से परे, चित् स्वरूप में स्थित रहने वाले आत्मज्ञानी के लिए दिक-काल आदि का अस्तित्व नहीं होता। वह अनंतस्वरूप हो जाता है अर्थात ब्रह्म्रूप हो जाता है।

[1]स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।

---

1. छान्दोग्य उपनिषद – 7.24.1

"तत्त्व (परमसत्ता) अपनी महिमा में हैं अथवा अपनी महिमा में नहीं भी है अर्थात अनिर्वचनीय है।"

अपने भीतर चैतन्य परमसत्ता में रमण करने वाला आत्मज्ञानी अपनी अनिर्वचनीय महिमा में रहता है तथा मन और बुद्धि से परे स्थित होने के कारण उनके व्यापार से प्रभावित नहीं होता लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर मार्ग और साधनों का महत्व नहीं होता परमसत्ता को जानने वाले की दृष्टि में आत्मा अनात्मा या जड़ चेतन में भेद नहीं होता, आत्मा और अनात्मा का चिन्तन सिद्ध महात्मा के लिए नितान्त अनावश्यक ही नहीं बल्कि बाधक दोष भी है। जो परमसत्ता स्वरूप में स्थित हो चुका है उसके लिए न कुछ गुण है, न दोष, न कुछ शुभ है, और न अक्षुभ, वह चिन्ता और अचिन्ता से परे सम और शान्त रहता है। वह चेतन की महिमा में स्थित रहता है।

जिस प्रकार स्वप्न से जागृत होने पर स्वप्न के दृश्य मिथ्या हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान का उदय होने पर संसार का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है तथा मन और बुद्धि से परे आत्म चेतना में स्थित आत्मज्ञानी मन और बुद्धि के माध्यम से दृष्ट जगत् से प्रभावित नहीं होता।

आत्मज्ञानी की सर्वोच्च अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता है। पूर्णतः जागृत होने पर आत्मज्ञानी स्वप्न सुषुप्ति और जागरण की अवस्थाओं से परे स्थित हो जाता है। आत्मा इन तीनों

अवस्थाओं का द्रष्टा होता है। चेतना की चतुर्थ अवस्था (तुरीय अवस्था) में अहंकार विलुप्त हो जाता है।

तुरीय अवस्था को चेतना क्रम में उच्चतम् होने पर भी सापेक्षिक कह दिया जाता है। आत्मा निरपेक्ष है पूर्णत्व को प्राप्त आत्मज्ञानी तुरीय के अनुभव से भी अतीत होने पर आत्मा ही हो जाता है – यह ब्रह्म् की अवस्था है।

परम्सत्ता को जानने वाला नितान्त भयमुक्त होता है। परम्सत्ता एक है, भय दूसरे के होने पर होता है। परम्सत्ता में स्थित आत्मज्ञानी की महिमा अचिंत्य होती है।

आत्मज्ञानी अपने भीतर चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थित होकर मन बुद्धि और अहंकार से परे चला जाता है तथा अहंकार से उत्पन्न 'मैं' और 'मेरा' के बंधन से मुक्त हो जाता है। आत्मज्ञानी जीवन की इच्छा तथा मृत्यु के भय से नितान्त मुक्त होता है। वह जीवन के रहस्य को जानकर आनंदमग्न हो जाता है।

परम्सत्ता को जानने वाला लोकों तथा लौकिकता से परे हो जाता है, वह अलौकिक होता है। आत्मज्ञानी के लिए ध्यान की लयावस्था तथा समाधि की स्थिति का कोई महत्व नहीं होता, वह अपने भीतर पूर्णता का अनुभव करता है।

[1]अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽस्थलम्।

अलं विज्ञान कथया विश्रान्तस्य ममात्मनि।।

"आत्मा में विश्रान्त हुए मेरे लिए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की कथा निरर्थक है, योग (समाधि आदि) की कथा भी व्यर्थ है, विज्ञान (प्रज्ञा, अनुभवयुक्त ज्ञान) की चर्चा निष्प्रयोजन है।"

त्रिवर्ग अर्थात धर्म, अर्थ और काम के सफल होने पर मोक्ष प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ध्यानादि योगों की उपयोगिता होती है। विज्ञान की अर्थात प्रज्ञा एवं अनुभव के विशेष ज्ञान की महत्ता भी असंदिग्ध होती है।

[2]न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान।
और भी
[3]नाहं जीवः परं ब्रह्म

देह जड़ है तथा आत्मा चैतन्य स्वरूप है। आत्मा देह का प्रकाशक है तथा उससे भिन्न है। परमात्मा जगत् का प्रकाशक है, तथा जगत् प्रकाश्य है, परमात्मा जगत् का प्रकाशक होकर उससे भिन्न है (देह के सन्दर्भ में जिसे आत्मा कहा जाता है जगत् के सन्दर्भ में उसे ही परमात्मा कहा जाता है)।

---

1. अष्टावक्रगीता - 19.8
2. अष्टावक्रगीता - 15.4
3. विवेकचूड़ामणि - 281

"मैं" (अर्थात वह परम सत्ता) सच्चिदानंद स्वरूप हूँ मैं परब्रह्म् परमात्मा होकर भी अज्ञान के कारण दुःखादि का अनुभव करता हूँ। "मैं" शुद्ध चैतन्य स्वरूप, आनंद स्वरूप परब्रह्म् हूँ।" इस प्रकार का ज्ञान ही मोक्ष प्रदान करने वाला होता है।

वह परम्सत्ता चैतन्य सिन्धु है, जो सदैव साम्यावस्था में रहता है और परम्शान्त रहता है जिस प्रकार वायु के वेग से समुद्र में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और तरंगे उठने लगती उसी प्रकार चित्त के चलायमान होने पर उसमें विकारों का उदय होता है।

चैतन्य स्वरूप आत्मा में विश्रान्ति हो जाने पर तथा अपने भीतर पूर्णता में मग्न हो जाने पर परम्सत्ता को जानने वाला आत्मज्ञानी अपने भावोद्‌गार कुछ इस तरह व्यक्त करता है –

पर्याप्त है त्रिवर्ग की कथा, पर्याप्त है योग की कथा, और पर्याप्त है विज्ञान की कथा बस हो चुकी ज्ञान की चर्चा। मैं अपने भीतर विश्रान्त हूँ। आनंद की चरम अवस्था में स्थित होने पर वाणी मौन हो जाती है निश्चय ही परम सत्ता के अनुभूति की अवस्था वर्णनातीत होती है।

अष्टावक्रगीता में ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताया गया है। इस विचारधारा में जगत् पूर्णतः मिथ्या है और तज्जन्य दुःखादि भी इसी प्रकार मिथ्या है, क्योंकि सत्य होने पर उनसे पूर्ण

विमुक्ति सम्भव नहीं, कभी न कभी फिर उनमें फंसने की आशंका बनी रहेगी। द्वैत रहने पर भय अवश्यम्भावी है। जगत् के अनुभव यथा स्वप्न दशा में व्यावहारिक जगत् का बाध और व्यवहार दशा में स्वप्न का बाध आदि उसकी सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं, अतः यह जगत् मिथ्या प्रमाणित होता है जिसका कारण अज्ञान है। नियम है कि कारण के नष्ट होने पर ही कार्य नष्ट होता है और उसकी पुनरूत्पत्ति की सम्भावना समाप्त हो सकती है, अतः अज्ञान के विनाश से ही दुःखों से पूर्ण विमुक्ति सम्भव है। इस अज्ञान का विनाश ज्ञान से ही हो सकता है इस बात को आचार्य इस प्रकार से कहते हैं -

[1]देहाभिमान पाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।।

"हे प्रिय, तू चिरकाल से देहाभिमान पाश से बद्ध है इसे "मैं चैतन्यस्वरूप हूँ" इस बोधरूप ज्ञान-खड्ग से काट दे सुखी हो जा।"

आचार्य ने मुक्ति के साधन के रूप में क्षमा, आर्जव (सरलता) दया, संतोष तथा सत्य को अमृत के समान सेवन करने का उपदेश दिया है -

---

1. अष्टावक्रगीता - 1.14

मुमुक्ष है। इस प्रकार इन साधनों के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

भौतिक कामनायें मनुष्य के मन को चंचल कर देती हैं मनुष्य कामना पूर्ति के लिए व्यग्र होता है तथा पूर्ण न होने पर निराशा, हताशा तथा क्रोध से भर जाता है एक कामना की पूर्ति अन्य कामनाओं को जन्म देती है इसलिए मोक्ष प्राप्ति हेतु मन का समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होना आवश्यक है। मोक्ष प्राप्ति के हेतु अंतःकरण का निर्मल होना आवश्यक है। उसमें विषय भोग की वासनायें शेष नहीं रहनी चाहिए। वास्तव में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में सर्वाधिक बाधाएं भौतिक विषयों के प्रति आसक्ति ओर उन्हे प्राप्त करने की इच्छाओं के कारण उत्पन्न होती है। जब तक विषय भोगों की वासनायें शान्त नहीं होती, मनुष्य का मन भटकता ही रहता है व्यक्ति अतःकरण के निर्मल होने पर चेतना का उच्च स्तर प्राप्त कर लेता है और वह आत्मा के सौन्दर्य एवं आनंद में स्थित हो जाता है तथा वह प्रवाह पतित परिस्थितियों में सम और शान्त रहता है। सांसारिक भोग ऐसे निर्मल अंतःकरण वाले व्यक्ति को न सुख देते है और न दुःख वह वासना मुक्त और निर्द्वन्द्व रहकर निरन्तर आनंदावस्था में रहता है – इसी बात को आचार्य ने इस प्रकार से कहा है –

[1]अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयागतो भोगों न दुःखाय न तुष्टये।।

---

1. अष्टावक्रगीता – 3.14

"जिसने अंतःकरण से कषाय का त्याग कर दिया, जो निर्द्वन्द्व और इच्छा रहित है उस पुरूष को दैवयोग प्राप्त भोग न दुःख के लिए होते है न सुख के लिए ही।"

मोक्ष प्राप्ति हेतु मन में वैराग्य भाव होना परम आवश्यक है, - 'मैने इस कर्त्तव्य कर्म की पूर्ति कर दी है तथा उस कर्त्तव्य कर्म की पूर्ति नहीं की है' - इसका समाधान कभी नहीं होता। क्योंकि मनुष्य के जीवन में कृत और अकृत कर्म अनंत होते हैं, किसी देहधारी के कृत-अकृत तथा सुख-दुःख आदि द्वन्दो का स्थायी समाधान होना कदापि सम्भव नहीं होता है इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मज्ञानी वैराग्य भाव धारणकरता है। तथा वह कृत-अकृत और समस्त द्वन्दों से परे स्थित हो जाता है। वह कोई व्रत नहीं करता अर्थात आग्रह अथवा हठ से प्रवृत्त नहीं होता तथा शान्त भाव में स्थित हो जाता है।

मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रत्येक परिस्थिति में समभाव में स्थित रहना चाहिए। संसार से ग्रस्त न हो तथा जीवन में कोई भी काल तथा अवस्था ऐसी नहीं होती जब मनुष्य द्वन्द्वों से मुक्त हो यह मनुष्य की नियति है कि वह आजीवन द्वन्द्वों से ग्रस्त रहता है, मनुष्य की मोक्ष प्राप्ति के लिए द्वन्द्वातीत होना आवश्यक है-

[1]कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्।।

"जहाँ मनुष्यों के द्वन्द्व न हो ऐसा कौन सा काल अथवा अवस्था है। उनकी उपेक्षा करके जैसा कुछ भी प्राप्त हो जाय उसमें ही बरतने वाला मनुष्य सफलता को प्राप्त करता है।"

यद्यपि कि मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ – काम मोक्ष को कल्याणकारी कहा गया है – धर्म से नियंत्रित होने पर अर्थ और काम-मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य प्रायः काम के वश में रहता है। तथा काम से प्रवृत्त होकर सकाम कर्म करता है।

यद्यपि धर्म का उद्देश्य भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करना माना गया है, तथापि प्रायः धर्म का व्यावहारिक अर्थ सकाम भाव से पुष्यदान आदि उत्तम कार्य करना होता है। जिससे उसके फलस्वरूप व्यक्ति को अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो सकें, मोक्ष प्राप्ति हेतु आत्मज्ञानी को सकाम भाव से धार्मिक कर्म सम्पन्न करना तो त्याज्य है ही, वह धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि द्वन्द्वों से परे चला जाता है। आचार्य मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हुये इस प्रकार से कहते हैं।

---

1. अष्टावक्रगीता – 9.4

[1]विहाय वैरिंण काममर्थ चानर्थ सङ्कुलम्।

धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरू।।

"वैरीरूप काम को और अनर्थ से संकुल धनादि को त्यागकर और इसके हेतु धर्म को भी छोड़कर सर्वत्र अनादर कर।"

[2]प्रौढ़वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव।

"प्रौढ़ वैराग्य का आश्रय लेकर, तृष्णा रति होकर सुखी हो जा।"

मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रौढ़ वैराग्य का होना अति आवश्यक है यह प्रौढ़ वैराग्य ही व्यक्ति को सांसारिकता से मुक्ति दिला सकता है क्योंकि जब तक प्रौढ़वैराग्य नहीं होगा मन सांसारिक विषयों की ओर भागता रहेगा। आचार्य ने मोक्ष प्राप्ति के, साधन के रूप में "विस्मरण" को उदृत किया है उनका कथन है –

[3]आचक्ष्व श्रृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।

तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।।

---

1. अष्टावक्रगीता – 10.1.
2. अष्टावक्रगीता – 10.3
3. अष्टावक्रगीता – 16.1

"हे प्रिय अनेक बार अनेक शास्त्रों को कह अथवा सुन किन्तु बिना सबका विस्मरण किये तेरी स्वस्थता नहीं।"

यहाँ पर आचार्य का 'विस्मरण' का आशय यह है कि - ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञान-ग्रंथों का अध्ययन करना उन पर चिन्तन करना और उनकी चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक होता है, उनका स्मरण करना और तत्त्व ग्रहण के लिए सतत् प्रयत्न करना ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है, साध्य की प्राप्ति होने पर साधन अनावश्यक हो जाते हैं। आत्मज्ञान के आत्मसात् होने पर तथा आत्मा के साथ तद्रूपता की अनुभूति होने पर ज्ञान ग्रंथों का स्मरण करते रहना साधक के स्थान पर बाधक ही हो जाते हैं।

आत्मा के परम सौन्दर्य को न जान पाने वाले अज्ञानी, मैं देह हूँ, मैं बुद्धि हूँ। ऐसा सोचकर दुःखों को भोगते हैं विषयासक्त मनुष्य दैहिक चेतना में स्थित हो जाता है तथा आत्माभिमुख नहीं होता। ज्ञानी पुरुष विषयों को विषवत् त्याग देता है।

[1]मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान विषवत्त्यज।

भौतिक कामनाएँ मनुष्य के मन को चंचल एवं क्षुब्ध कर देती हैं। मन भौतिक वस्तुओं से आकृष्ट होकर उनको प्राप्त करने की कामना करता है मनुष्य कामना पूर्ति के लिए व्यग्र होता है तथा पूर्ण

---

1. अष्टावक्रगीता - 2.1

न होने पर निराश एवं हताश तथा क्रोध से ग्रस्त हो जाता है एक कामना की पूर्ति अन्य कामनाओं को जन्म दे देती है तथा कामनाओं की संख्या बढ़ती जाती है भौतिक कामनाओं की पूर्ति से मनुष्य को आत्यान्कि तृप्ति कदापि प्राप्त नहीं होती।

[1]न वित्तेन तर्पणीयों मनुष्यः

धन प्राप्त होने पर अधिक धन की लालसा उत्पन्न हो जाती है तथा मनुष्य सारे जीवन में इसी लालसाओं के कुचक्र में अज्ञान वश भटकता रहता है।

[2]न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्।
चिद्‌रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर।।

"न तू देह है, न देह तेरा है और तू भोक्ता और कर्त्ता नहीं है। तू चिद्‌रूप सदासाक्षी है, निरपेक्ष है, सुख पूर्वक विचरण कर।"

इस प्रकार से आचार्य द्वारा कही गयी उपर्युक्त बातों से मुमुक्ष को मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

(v) निष्कर्ष :

आचार्य ने आत्मा का शरीर और नामरूपात्मक जगत् के साथ अपनत्व जोड़ लेने को बंधन कहा है। आत्मा शरीर से भिन्न है

---

1. कठोपनिषद -1.1.27
2. अष्टावक्रगीता - 15.4

फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को अपनी समझने लगता है, यही बंधन है। इसी कारण वह सुख दुःखादि का भी अनुभव करता है। आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है, परंतु अज्ञान के वशीभूत होकर बंधन ग्रस्त हो जाता है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक संसार के दुःखों का सामना करता रहता है। ज्ञान द्वारा जब अविद्या का निवारण हो जाता है तो जीव अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। अविद्या का निवारण ज्ञान से ही सम्भव है आचार्य ने मोक्ष प्राप्ति का साधन ज्ञान को ही बताया है, मोक्ष प्राप्ति हेतु कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। कर्म ज्ञान की प्राप्ति में भले ही सहायक हो किन्तु, मोक्ष नहीं दिला सकता।

आचार्य के मतानुसार – मोक्ष कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करना है, मोक्ष को प्राप्त करने का अर्थ बंधनग्रस्त जीव को – यह समझ लेना है कि वह शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप है।

सप्तम् अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

अष्टावक्रगीता में ज्ञानयोग का प्राधान्य है, तथा यह पूर्णतयः अद्वैत पर प्रतिष्ठित है। निश्चय ही यह ग्रंथ अतुलनीय है। अनेक स्थलों पर दुरूह प्रतीत होते हुए भी इसका तत्त्वार्थ स्पष्ट है, जिज्ञासु एवं श्रद्धालु व्यक्ति के लिए यह सुगम एवं सुरूचिपूर्ण है। जिज्ञासा एवं श्रद्धा से तीव्र उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है तथा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है।

आचार्य अष्टावक्र ने ब्रह्म को एक मात्र सत्य कहा है, वह सब विषयों का आधार है, यद्यपि वह दिक् और काल की सीमा से परे है, उस पर कारण-नियम भी लागू नहीं होता है, आचार्य ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है, वह अनंत, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है तथा जगत् का आधार है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। इस विवर्त से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक जादूगर अपने ही जादू से ठगा नहीं जाता है। अविद्या के कारण ब्रह्म नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है जगत् मिथ्या है। आचार्य ने ब्रह्म को ही आत्मा कहा है। ब्रह्म सत्य होने के कारण सभी प्रकार के विरोधों से मुक्त है। सत्य उसे कहते हैं जिसका कभी बाध नहीं

होता वह सर्वव्यापक है उसका आदि और अंत नहीं है। सबका कारण होने के कारण सबका आधार है। पूर्ण और अनंत होने के कारण आनंद ब्रह्म का स्वरूप है, वह अपरिवर्तनशील है उसका न विकास होता है न रुपान्तर होता है, वह निरंतर एक समान ही रहता है। आचार्य ने ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहा है, उसको शब्दों के द्वारा प्रकाशित करना असम्भव है, ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहने का यह अर्थ नहीं है कि वह अज्ञेय है, ब्रह्म की अनुभूति होती है। इस प्रकार वह निर्गुण, निर्विशेष और निराकार है। आचार्य ने ब्रह्म को सत् कहा है जिसका अर्थ है वह असत् नहीं है, चित् कहने का आशय यह है कि वह अचित् नहीं है, वह आनंद है जिसका अर्थ है वह दुःख स्वरूप नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म सत्, चित, आनंद अर्थात सच्चिदानंद है।

आचार्य ने कहा है ईश्वर ही विश्व की सृष्टि करता है, जिसका आशय है कि मायोपहित ब्रह्म, ईश्वर संज्ञा को प्राप्त करता है। इसे सविशेष ब्रह्म भी कहा जाता है। यही मायोपहित ब्रह्म अर्थात ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। ईश्वर विश्व का उदादान और निमित्तकारण दोनो है।

आचार्य आत्मा को ही ब्रह्म कहते हैं, आत्मा ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की सत्यता परमार्थिक है। यदि कोई आत्मा का

निषेध करता है और कहता है 'मैं नहीं हूँ' तो उसके इस कथन में भी आत्मा का विधान निहित है। अज्ञानी लोग 'मैं दुबला हूँ, मैं अंधा हूँ, मैं लंगड़ा हूँ, या मैं जानता हूँ इस प्रकार का कथन करते हैं जबकि ये सारी विशेषतायें शरीर तक सीमित है आत्मतत्त्व इन सबसे अलग शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप है।

माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करता है, जिस प्रकार जादूगर जादू की प्रवीणता से विभिन्न प्रकार के खेल दिखाता है, उसी प्रकार ब्रह्म माया शक्ति से विश्व का नाम-रुपात्मक रूप उपस्थित करता है। माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है। यद्यपि कि आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण वह शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध जोड़ लेता है, और जीवत्व को प्राप्त करता है यही बंधन है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अज्ञान का निवारण हो जाय, यह निवारण ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। अब प्रश्न उठता है कि यह बंधन माया द्वारा किस प्रकार से होता है जिसके कारण आत्मा जीवत्व संज्ञा को प्राप्त करता है?

माया के मूलतः दो कार्य हैं। प्रथम माया वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढंक लेती है, जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है, माया का

यह निषेधात्मक कार्य है, माया के इस कार्य को आवरण कहा जाता हैं। माया का दूसरा कार्य है, कि वह सत्य के स्थान पर दूसरी वस्तु को उपस्थित करती है। माया सिर्फ रस्सी के वास्तविक स्वरूप को ही नहीं ढंक लेती बल्कि रस्सी के स्थान पर साँप की प्रतीति भी उपस्थित करती है। माया का यह भावात्मक कार्य है। माया के इस कार्य को विक्षेप कहते हैं। माया अपने निषेधात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म को ढंक लेती है तथा अपने भावात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म के स्थान पर नामरुपात्मक जगत् को प्रस्थापित करती है।

आत्मा की परमार्थिक सत्ता है, पर जीव की व्यावहारिक सत्ता है। जब आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है। जब आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है, तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव आत्मा का आभास मात्र है। जीव संसार में कर्म करता है, इसलिए उसे कर्ता कहा जाता है। वह विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है, इसलिए उसे ज्ञाता कहा जाता है। सुख-दुःख की अनुभूति जीव को होती है, वह कर्म-नियम के अधीन है।

अपने कर्मो का फल प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है शुभ और अशुभ कर्मों के कारण वह पुण्य और पाप का भागी होता है।

आचार्य ने आत्मा को मुक्त माना है परन्तु जीव इसके विपरीत बंधन-ग्रस्त है, अपने प्रयास से जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। एक आत्मा ही विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है, जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि में दीख पड़ता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा, शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दीख पड़ती है। जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है, जब आत्मा का अज्ञान के वशीभूत होकर बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नहीं होता वह अपने को बुद्धि और शरीर से भिन्न नहीं समझता, इसीलिए आचार्य ने शरीर और जीव के इस सम्बन्ध नाश के लिए ज्ञान का उपदेश दिया है।

जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद दीख पड़ता है वह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है, दोनों का भेद व्यवहारिक है सत्य यह है कि जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए आचार्य ने उपमाओं का प्रयोग किया है जिससे भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का निरूपण होता है, जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए आचार्य ने प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार से दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरूष भासता है

उसी प्रकार से शरीर में प्रतिबिम्बत आत्मा ही जीव के रूप में आभासित होता है। इसी प्रकार आचार्य अवच्छेदवाद की स्थापना में कहते हैं- कि एक ही आकाश जो सर्वव्यापी है, उपाधि भेद से घटाकाश और मठाकाश के रूप में परिलक्षित होता है, उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण उपाधि भेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है।

ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। माया ईश्वर की शक्ति हैं। जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और पुनः ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। आचार्य ने सृष्टि को परमार्थतः सत्य नहीं माना है। जिस प्रकार से तरंगें सागर में उठती हैं किल्लोल करती हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ईश्वर में ही अधिष्ठित है और उसी में लय को प्राप्त होती है। आचार्य ने जगत् को रस्सी में दिखाई देने वाले साँप के समान माना है। यद्यपि जगत् मिथ्या है फिर भी जगत् का कुछ न कुछ आधार है, जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाले साँप का आधार रस्सी है। उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। अतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। आचार्य त्रिविधि सत्ताओं (प्रतिभासिक, व्यवहारिक, परमार्थिक) में से परमार्थिक सत्ता को ही सत् मानते हैं क्योंकि मात्र यही वह सत्ता है जो तीनों कालों में बाधित नहीं होती शेष दो सत्तायें कभी न कभी बाधित हो

जाती है, अतः वे सत् नहीं हो सकती जगत् व्यवहारिक सत्ता के अंतर्गत आता है अतः उसकी सत्ता नहीं हो सकती। परमार्थिक सत्ता ब्रह्म की होती है अतः ब्रह्म ही एक मात्र सत् है।

आचार्य के अनुसार आत्मा का शरीरादि में अपनापन का सम्बन्ध होना बंधन है। आत्मा शरीर से भिन्न है। फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को अपनी अनुभूतियां समझने लगता है जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान की सफलता और असफलता को अपनी सफलता-असफलता समझने लगते हैं उसी प्रकार जीव, पार्थक्य के ज्ञान के अभाव में, शरीर के सुख दुःख को निजी सुख दुःख समझने लगता है, यही बंधन है। आत्म स्वभावतः नित्य, शुद्ध चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है। परंतु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बंधनग्रस्त हो जाती है। जब तक जीव में विद्या का उदय नहीं होता तब तक वह संसार के दुःखों का सामना करता रहता है। अविद्या के नाश के साथ ही जीव के पूर्व संचित कर्मो का अंत हो जाता है, इस प्रकार वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है। अविद्या का अंत ज्ञान से ही सम्भव है, आचार्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान अत्यावश्यक है। मोक्ष प्राप्ति हेतु कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। कर्म और भक्ति ज्ञान प्राप्ति में तो सहायक हो सकते हैं, किन्तु मोक्ष प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते आचार्य ने एक मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। ज्ञान की प्राप्ति अष्टावक्रगीता

के अध्ययन से हो सकती है परंतु अष्टावक्रगीता का अध्ययन करने के लिए साधक को साधना की आवश्यकता होती है उसे कुछ शर्तो का पालन करना पड़ता है तभी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी हो सकता है इसके लिए आचार्य ने साधक को ''साधन चतुष्टय'' सम्पन्न होने की बात कही है।

मोक्ष की प्राप्ति से, संसार में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है बल्कि इसकी प्राप्ति से जीव का जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण है, वह परिवर्तित हो जाता हैं। दुःख का कारण केवल मिथ्या ज्ञान है और भ्रान्ति से मुक्ति पा जाने पर दुःख से भी मुक्ति मिल जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है ब्रह्म आनंदमय है इसलिए आचार्य ने मोक्षावस्था को भी आनंदामय माना है। मोक्ष की प्राप्ति के बाद यह शरीर प्रारब्ध कर्मो के फलस्वरूप रह सकता है, इसे जीवन मुक्ति कहा जाता है, जीवन मुक्त व्यक्ति संसार के कर्मो में भाग लेता है फिर भी वह बंधन-ग्रस्त नहीं होता है। इसका कारण यह है कि उसके कर्म अनासक्त भाव से किये जाते हैं। जो कर्म आसक्त भाव से किये जाते हैं उनसे ही फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जीव को यह ज्ञान हो जाना कि मैं शरीरादि नहीं हूँ, मैं शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, यही मोक्ष हैं।

मानव में विश्व के मूलभूत सत् तत्त्व को अथवा विश्व के अंतिम सत्य को जान लेने की, उसे प्राप्त करने की अदम्य लालसा होती है, आचार्य अष्टावक्र ने अष्टावक्रगीता में ब्रह्म को मूलभूत सत् तत्त्व अथवा अंतिम सत्य के रूप में प्रतिपादित किया है। उनका उदघोष है कि विश्व की परमसत्ता (ब्रह्म) शुद्ध, चैतन्यस्वरूप तथा वह अंतर्निहित माया शक्ति के द्वारा विश्व का संचालन, नियमन एवं नियंत्रण करता है, तथा प्राणियों का आत्मा होने के कारण तत्त्वतः वही है। मनुष्य बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण सूक्ष्म स्तर पर उसकी अनुभूति कर सकता है।

अध्यात्मवादी मनुष्य जीवन के अनेक स्तरों पर जीवन यापन करते हुए धैर्यपूर्वक उच्चतम शिखर तक पहुंचता है, तथा उच्चतम् शिखर को प्राप्त करने पर भी आवश्कतानुसार सभी स्तरों के दायित्वों का निर्वाह करता है, आत्मा के स्तर पर पहुँचने के लिए अन्यमय कोष (शरीर) प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनंदमय कोष से भी परे जाना आवश्यक होता है। इन्द्रिय सूक्ष्म होती हैं - मन इन्द्रियों से भी अधिक सूक्ष्म होता है, बुद्धि मन से अधिक सूक्ष्म होती है तथा आत्मा बुद्धि से भी परे होता है। जप, तप, ध्यान, प्रार्थना, भजन-कीर्तन, दान-पुण्य, सत्कर्म इत्यादि चित्त को शुद्ध करके मनुष्य को अपने ब्रह्म स्वरूपानुभूति का पात्र बना देते हैं। आत्मानुभूति के उच्चतम शिखर पर स्थित महाज्ञानी अष्टावक्र के

लिए जप–तप आदि निष्प्रयोजन हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से नदी पार कर लेने पर नौका निष्प्रयोजन हो जाती है।

निश्चय ही ज्ञान पर किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग का एकाधिकार नहीं हो सकता ज्ञान के द्वार प्रत्येक सत्पात्र व्यक्ति के लिए सदैव अनावृत होते हैं, अष्टावक्र का ज्ञानोपदेश जहाँ एक तरफ संतों के लिए आत्मानुभूति कराने वाला अमृत है, वही आधुनिक जीवन शैली के कारण जो समाज में विलासिता भोगवृत्ति की प्रचुरता तथा वैराग्य एवं त्याग का अभाव हो गया है, जिसके कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं समाज का निरंतर क्षरण हो रहा है, उसका भी निदान इसी आष्टावक्रगीता के उपदेश से ही सम्भव है।

व्यक्ति जीवन में सादगी और संतोष, तथा आहार – विहार में संयम लाकर, शक्ति के बिखराव पर अंकुश लगा सकता है। निश्चय ही धन और सत्ता का आकर्षण तथा उनके प्रदर्शन द्वारा अहंकार का पोषण, व्यक्ति और समाज को पतनोन्मुख कर देते हैं। आधुनिकता के संदर्भ में आत्मजागरण ही व्यक्ति और समाज के कल्याण का सूत्रपात कर सकता है। इसी व्यक्ति और समाज कल्याण हेतु आचार्य ने व्यवहारिक उपदेश दिया है। उनका कहना है कि जैसी भी परिस्थिति संयोग से उपस्थित हो जाय, मनुष्य को

उसे स्वीकार करके उचित कर्तव्य करते हुए स्वस्थ अर्थात अपने भीतर परम शान्त रहना चाहिए।

परिस्थितियों पर मानव का वश नहीं होता तथा उनकी पृष्ठभूमि में भूतकाल की अनेकानेक घटनायें होती हैं, जिन्हें वर्तमान में परिवर्तित करना असंभव होता है। मनुष्य परस्पर आदान प्रदान करत हैं, किन्तु किसी से भलाई के बदले में कुछ भी आशा करना उचित नहीं होता, क्योंकि आशा में निराशा अंतर्निहित होती है। वास्तव में एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए इस संसार में केवल कर्त्तव्य ही होते हैं, अधिकार नहीं, अधिकार पर बल देने से मनुष्य के नैतिक बल का ह्रास हो जाता है। कर्तव्य पालन से अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

अपने कर्म का अभीप्सित फल पाने की कामना और आशा करना भी मनुष्य के लिए अनेक बार निराशा, क्लेश और अशान्ति का कारण होता है इसीलिए आचार्य अष्टावक्र ने ''यथास्थितिस्वस्थः'' कहकर मानों उपदेश दिया है-कि भूतकाल का अस्तित्व नहीं है। तथा भविष्य का जन्म नहीं हुआ, अतः वर्तमान को यथार्थ मानकर कर्म करना चाहिए तथा सदैव सम और शान्त रहना चाहिए, अहंकार रहित होकर अंतःप्रेरित कर्म करने वाला व्यक्ति सहजभाव

से श्रेष्ठ कर्म करता है, तथा परम संतुष्ट (कृतकर्त्तव्य निर्वृत्त) होता है। ज्ञानमूर्ति अष्टावक्र के उपदेश सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है।

मानवीय चेतना के उच्चतम् शिखर पर स्थित महाज्ञानी अष्टावक्र के स्वानुभूतिपरक उद्गार एवं उपदेश चित्त को निर्मल करके उसे सर्वोच्च धरातल पर स्थित कर देते हैं, जहाँ न भय है, न दुःख है तथा आनंद ही आनंद है। परमात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप एवं आनंदस्वरूप है। मानवीय चेतना के विकास में, परमानंद प्राप्ति की अनंत सम्भावनायें अंतर्निहित है।

सहायक ग्रन्थ सूची

	ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन
1.	अष्टावक्र ज्ञानामृत	शिवानंद	सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी जनवरी 2001
2.	अष्टावक्रगीता	आचार्य अष्टावक्र	खेमराज श्रीकृष्णदास सन् 1998 बम्बई-4
3.	अष्टावक्रगीता	आचार्य अष्टावक्र (सम्पादक-डॉ चमन लाल गौतम)	संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद सागर) बरेली-उ0प्र0 सन् 1997
4.	श्रीमद्भगवद्गीता	शांकरभाष्य युक्त	गीताप्रेस गोरखपुर उ0प्र0
5.	पंचदशी	विद्यारण्यस्वामी	संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली-उ0प्र0
6.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	गोविन्दमठ, टेढ़ी नीम, वाराणसी
7.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	नि0सा0 प्रेस बम्बई सन् 1938

8.	छान्दोग्योपनिषद	शाङ्करभाष्य युक्त	गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण-14 संवत् 2040
9.	मुण्डकोपनिषद	शाङ्करभाष्य युक्त	वाणीबिलास प्रेस वाराणसी
10.	कठोपनिषद	शाङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर संवत 2016
11.	तैतरीयोपनिषद	शाङ्करभाष्य युक्त	गीताप्रेस गोरखपुर षष्ठ संस्करण
12.	श्वेताश्वतरोपनिषद	शाङ्करभाष्य युक्त	नि0सा0 प्रेस बम्बई सन् 1934
13.	श्वेताश्वतरोपनिषद	डॉ0 तुलसीराम शर्मा	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
14.	कठोपनिषद	शाङ्करभाष्य युक्त	आनंदाश्रम पूना।
15.	वृहदारण्यकोपनिषद	शाङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर संवत् 2035
16.	वृहदारण्यकोपनिषद वर्तिका सार	विद्यारण्य	चौ0सं0सी0- 1919
17.	वृहदारण्यकोपनिषद भाष्य वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
18.	विवेकचूड़ामणि	शाङ्कयचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर 8वाँ संस्करण

19.	रामचरितमानस	गोस्वामीतुलसी दास	गीताप्रेस गोरखपुर
20.	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी	राम नारायण लाल विजय कुमार, 2, कटरा रोड, इलाहाबाद
21.	भारतीय दर्शन भाग–2	डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन	